पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला संख्या : १२१

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

तीर्थङ्कर महावीर और उनके दशधर्म

लेखक
प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति साधारण तौर पर भौतिक चकाचौंध में इतना अधिक अंधा हो जाता है कि उसे पंचेन्द्रिय वासनाओं के दुष्फलों की ओर सोचने का भी बोध जागृत नहीं होता। वह काम, क्रोधादि विकारों में आपादमग्न रहता है और धर्म की वास्तविकता को पहचानने से इन्कार कर देता है। इस इन्कार की तस्वीर को बदलने के लिए पर्युषण पर्व जैसे आध्यात्मिक पर्व निश्चित ही अमोघ साधन का काम करते हैं।

जैन संस्कृति में पर्युषण पर्व अथवा दशलक्षण पर्व का विशेष महत्त्व है। यह पर्व साधारणत्तः वर्षावास प्रारम्भ होने के ५० दिन बाद प्रारम्भ होता है। वर्षा योग का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर से हो जाता है और कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर में उसकी समाप्ति होती है।

वर्षावास साधना और संस्कार को जाग्रत करने का एक सुनहरा अवसर है। जब साधक शान्तिपूर्वक एक स्थान पर रहकर जीवन-सूत्र को संकलित करता है, अध्यात्मिक साधना का संयोजन करता है और पाता है उस जागरण को जो सुप्तावस्था में अभी तक पड़ा हुआ था। अन्तर में पड़ा हुआ तत्त्व ही संस्कार कहलाता है, जो सत्संगति से जाग्रत होता है। यह सत्संगति है तीर्थंकर महावीर जैसे महापुरुषों और साधकों की, जिन्होंने रत्नत्रय का पालन कर आत्मज्ञान पा लिया और साधकों को उसका उपदेश दिया।

प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही उपदेशक, साधक वन्दनीय तीर्थंकर महावीर का जीवन चरित तथा उनके द्वारा प्रवेदित धर्म के उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दश लक्षणों का विवेचन किया गया है। पर्युषण पर्व पर अध्यात्मिक साधकों के लिए यह विवेचन उपयोगी सिद्ध होगा।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : 121

प्रधान सम्पादक
प्रो0 भागचन्द्र जैन भास्कर

तीर्थङ्कर महावीर और उनके दशधर्म

लेखक
प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

1999

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : 121

पुस्तक	:	तीर्थङ्कर महावीर और उनके दशधर्म
लेखक	:	प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर
प्रकाशक	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई.टी.आई. रोड, करौंदी, वाराणसी-221005
दूरभाष	:	0542-316521, 318046
फैक्स	:	0542-318046
प्रथम संस्करण	:	1999
मूल्य	:	80.00
अक्षर सज्जा	:	सरिता कम्प्यूटर्स औरंगाबाद, वाराणसी-10 (दूरभाष : 359521)
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी

ISBN : 81-86715-45-2

Book	:	Tirthankara Mahāvira Aur Unake Daśadharma
Writer	:	Prof. Bhagchandra Jain Bhaskar
Publisher	:	Pārśwanāth Vidyāpiṭha I.T.I. Road, Karaundi Varanasi-221005.
Phone	:	0542-316521, 318046
Fax	:	0542-318046
First Edition	:	1999
Price	:	80.00
Type Setting	:	Sarita Computers, Aurangabad, Varanasi-10 (Phone-359521)
Printed at	:	Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या एवं संस्कृति के
उन्नायक एवं मर्मज्ञ
मनीषी अग्रज
डॉ० सागरमल जैन को
सादर समर्पित

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

आज के व्यस्तता भरे जीवन में पर्युषण पर्व जैसे आध्यात्मिक पर्व की उपयोगिता असन्दिग्ध है। व्यक्ति चौबीस घण्टे और बारहों महीने तो दुनियादारी में आकण्ठमग्न रहता है पर वह आध्यात्मिक कार्यों के लिए समय नहीं निकाल पाता है। किसी न किसी बहाने वह उनसे दूर-सा बना रहता है।

पर्युषण पर्व एक ऐसा पर्व है जिसमें प्राय: हर व्यक्ति किसी न किसी रूप मे अपने आपको अध्यात्म से जोड़ लेता है। मन्दिर या स्थानक में जाकर वह तीर्थङ्कर ऋषभदेव और महावीर जैसे आध्यात्मिक महापुरुषों के जीवनचरित को सन्तों से सुनता है तथा उनके द्वारा प्रवेदित धर्मों के विवेचन पर चिन्तन करता है। इससे जीवन के यथार्थ स्वरूप को समझने का सुनहला अवसर मिल जाता है।

हमारे संस्थान के कुशल निदेशक डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा लिखित 'तीर्थङ्कर महावीर और उनके दश धर्म' पुस्तक इसी उद्देश्य से समाज के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। आशा है, पाठकगण इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे।

पुस्तक को इस रूप तक पहुंचाने में डॉ० शिवप्रसाद एवं डॉ० विजयकुमार जैन ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। इसी तरह अक्षर-सज्जा के लिए सर्वश्री सरिता कम्प्यूटर्स तथा सुन्दर मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय को भी हम धन्यवाद देते हैं।

पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस
दिनांक १८.८.१९९९

भूपेन्द्रनाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी-५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

व्यक्ति जिजीविषा और जिज्ञासा जैसी वृत्तियों के बीच जूझते उलझते मानवीय जीवन की गुत्थियों को सुलझाना चाहता है, पर भौतिकता के चकाचौंध में अन्धा होकर वह उल्टे ही उलझता रहता है। आशाओं और आकांक्षाओं की असीमितता तथा अहङ्कार और ईर्ष्या की अपरिमितता ने व्यक्ति को हताशा और दग्धता के अलावा दिया ही क्या है? ये सांसारिक वृत्तियां दुःखवादी नाड़ियाँ जैसी हैं। इनसे शरीर लहुलहान-सा बना रहता है और मन सदैव छटपटाता रहता है इसे हम चाहे दुःखवाद कहें या विभ्रमवाद, उनकी दिशा और दशा एक ही है।

इस हताशा से बचने और सांसारिकता की ऊब से छुटकारा पाने के लिए बरबस हमारा मन आध्यात्मिकता की ओर झुक जाता है। हम चाहते हैं, कहीं कोई ऐसी छाया मिल सके जहां क्षणभर भी विश्राम किया जा सके, मन की चञ्चलता पर लगाम लगायी जा सके और मानसिक तनाव से मुक्त हुआ जा सके। आध्यात्मिक पर्व ऐसे ही सुनहरे अवसर होते हैं, जिनमें व्यक्ति निर्द्वन्द्व होकर स्वयं को खोजने का प्रयत्न करता है।

प्राचीन आचार्यों ने वर्षाकालीन चार माह का बड़ा सुन्दर समय इस दृष्टि से चुना है। इस समय आवागमन कम हो जाता है, बाहर की व्यस्ततायें सिकुड़ जाती हैं और व्यापार भी ठण्डा हो जाता है। जैन संस्कृति ने इस समय का उपयोग धर्म-ध्यान में लगाने के लिए चुना है। पर्युषण पर्व ऐसा ही अवसर है जो लगातार अठारह दिन चलता है— भाद्रपद मास में। साधारण तौर पर भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी से प्रारम्भ होकर भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी के दिन समाप्त होता है। इसे दश लक्षण महापर्व भी कहा जाता है। पर्व के अन्त में संवत्सरी और खमतखामणा या क्षमावाणी पर्व मनाकर पारस्परिक मनोमालिन्य को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस पर्व पर जैन मन्दिरों और स्थानकों में प्रतिदिन प्रवचन होते हैं, भजन-पूजन होता है और स्वाध्याय आदि के माध्यम से आध्यात्मिक चिन्तन किया जाता है। पहले आठ दिन कल्पसूत्र के आधार पर प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक की परम्परा पर विस्तार से चर्चा की जाती है। स्वाध्याय, तप और प्रतिक्रमण भी इसी के साथ चलते रहते हैं। अन्तिम दस दिन क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों पर प्रवचन किया जाता है और तत्त्वार्थसूत्र के दशों अध्यायों की क्रमशः वाचना की जाती है। जीवन में धर्म के दश लक्षणों पर विस्तार से विचार कर उनकी साधना की जाती है। इन धर्मों के साथ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उत्तम' विशेषण भी जुड़ा हुआ है, जो सम्बद्ध धर्मों की गहराई तक जाने का आह्वान करता है। इनकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है --

१. उत्तम क्षमा -- इसका विरोधी धर्म है क्रोध। व्यक्ति छोटी-छोटी-सी बातों पर क्रोध करता है और संघर्षों को आमन्त्रित करता है। यदि होश में क्रोध किया जाये तो क्रोध आयेगा ही नहीं। क्रोध हमेशा बेहोशी हालत में आता है। क्रोध के निमित्तों को दूर किया जाये और क्रोध करने वालों को और अपना बुरा करने वालों को यदि क्षमा कर दिया जाये तो वातावरण स्वभावतः स्वस्थ बन जायेगा और आनन्द से भर जायेगा।

२. उत्तम मार्दव -- मार्दव का अर्थ है - मृदुता, कोमलता। यह मान के अभाव में होती है। अहङ्कारी दूसरे का सम्मान न कर उसे अपमानित करता है। वह थोथा अहं शिर पर लेकर घूमता रहता है और व्यर्थ में बुराइयां मोल लेता रहता है। यह अभिमान कभी धन का, कभी रूप का, कभी ज्ञान का कभी बल का, कभी जाति का होता है। प्रतिक्रिया से मुक्त होना ही वास्तविक मार्दव है।

३. उत्तम आर्जव -- मृदुता आने के बाद माया, छल, कपट, गायब हो जाता है। कपट वक्रता लिये रहता है। टेढ़ापन तो हमेशा खराब ही रहता है। सरलता और निर्मलता भीतरी जागरण से ही होता है। निरासक्ति और सन्तोष भी आर्जव का ही बाय-प्रोडक्ट है।

४. उत्तम शौच -- शौच का अर्थ है पवित्रता, जो लोभ के अभाव में उपजती है। कपट भाव के तिरोहुत होने के बाद मन में पवित्रता आती है। मूर्च्छा व परिग्रह शुचिता न आने देने में कारण होता है। अर्जन के साथ विसर्जन भी होना ही चाहिए।

५. उत्तम सत्य -- शौच आने के बाद साधक सत्य की साधना करता है। सत्य का तात्पर्य है दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों को त्यागकर स्व-पर हितकारी वचन बोलना। अनेकान्तवाद स्याद्वाद, नय और निक्षेप जैसे सिद्धान्त इसी के अन्तर्गत आते हैं। यहां से स्वतन्त्रता का जागरण होता है और परतन्त्रता समाप्त होने लगती है।

६. उत्तम संयम -- सत्य की साधना होने के बाद संयम की साधना की जाती है। संयम का तात्पर्य है मन की चञ्चल गति को रोक लेना। संयम एक प्रकार से अनुशासन है जो इन्द्रियों और मन पर लगाम लगाता है, आदतों में परिवर्तन करता है, मन, वचन, काय को संयमित करता है, आहार, निद्रा आदि को काबू में रखता है और धर्म की चेतना को समझने का अवसर देता है।

७. उत्तम तप -- संयम की गहराई के साथ तप की ओर झुकाव अधिक होता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। तप का तात्पर्य है मन का मार्जन करना और संचित कर्मों की निर्जरा करना, उन्हें समय के पहले पकने देना। यहां आहार संयम पर विशेष बल दिया है। इसमें उपवास, अनशन आदि अनेक प्रकार के तप किये जाते हैं।

८. उत्तम त्याग -- तप के बाद साधक का मन अपने शरीर से निरासक्त हो जाता है और वह त्याग की ओर बढ़ जाता है। त्याग का अर्थ है -- छोड़ना अर्थात् राग-द्वेषादि विकार भावों को छोड़ देना और दानादि वृत्ति से धन को विसर्जित करना। इसके साथ यह भी भाव जुड़ा हुआ है कि धनार्जन शुद्ध साधनों से ही होना चाहिए।

९. उत्तम आकिञ्चन्य -- त्याग का आचरण करने के बाद साधक के पास स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बचता। वह बिल्कुल अपरिग्रही हो जाता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है। तब मन, वचन, काय की अकिञ्चितता और उपकरण पर जोर दिया जाता है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य -- उत्तम आकिञ्चन्य को पा लाने के बाद साधक निष्परिग्रही हो जाने के कारण आत्मरमण करने की स्थिति में आ जाता है। मोह ममता विगलित हो जाती है, काम-गुणों पर विजय प्राप्त हो जाती है। परिणामत: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अन्त हो जाता है। ध्यान की परिपूर्ण साधना यहीं होती है।

इस प्रकार पर्युषण पर्व किंवा दश लक्षण महापर्व उत्तम क्षमादि धर्मों पर चिन्तन करने का एक सुन्दर अवसर प्रदान करता है जिससे जीवन की वगिया खिल सकती है और चारों ओर सुगन्ध बिखेरी जा सकती है। जीवन को जीवन के रूप में पहचानने का यह एक स्वर्णिम अवसर है, मानवता और अहिंसा को अपने आप में समाहित करने का सर्वोत्तम साधन है इसीलिए इसे आध्यात्मिक पर्व कहा जाता है।

इस आध्यात्मिक पर्व की देहरी पर खड़े होकर हम तीर्थङ्कर महावीर और उनके दश धर्म शीर्षक पुस्तक अपने पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें हमने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को समन्वित कर उसमें समग्रता लाने का प्रयत्न किया है। आशा है, सुधी पाठक इसे पूरी हृदय से स्वीकार करेंगे।

पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस
दिनांक १८.८.१९९९

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर
निदेशक

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

प्रकाशकीय *iv*

प्राक्कथन *v-vii*

विषय-सूची *viii-x*

१. **पर्युषण : सही दृष्टि देने वाला महापर्व** १-९

पर्युषण पर्व का अर्थ (१), पर्युषण की परम्परा (२), दस लक्षण धर्म की परम्परा (४), पर्युषण कल्प का अर्थ (५), पर्युषण पर्व का उद्देश्य (६), धर्म का स्वरूप (७)।

२. **तीर्थङ्कर ऋषभदेव और उनकी सांस्कृतिक परम्परा** १०-२६

जीवन घटनायें (१२), तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि (१३), तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ (१४), तीर्थङ्कर महावीर (१४), पूर्वभव परम्परा (१५), अवतरण (१७), जैनधर्म और सिद्धान्त (१९), जैनधर्म का प्रचार-प्रसार (२०)।

३. **महावीर और उनकी परम्परा** २७-६३

पूर्वभव (२८), माता-पिता (३०), गर्भापहरण (३०), पावनधरा पर (३१), बाल्यावस्था (३१), शिक्षा-दीक्षा (३२), गार्हस्थिक जीवन (३२), महाभिनिष्क्रमण (३३), छद्मस्थ साधना (३३), छद्मस्थकाल तथा वर्षावास (३४), विशिष्ट घटनायें (३५), गोपालक उपसर्ग (३५), कतिपय प्रतिज्ञाएँ (३६), दश स्वप्न (३७), निमित्त ज्ञान (३८), चण्डकौशिक (३८), मक्खलिगोशालक से भेंट (३९), पार्श्वनाथ साधुओं से भेंट (४०), अग्नि उपसर्ग (४०), अनार्य देशों में भ्रमण (४०), कठपूतना का उपसर्ग (४१), लोहार्गला (४१), तप्तधूलि (४२), संगम उपसर्ग (४३), कठोर अभिग्रह (४३), गोपालक उपसर्ग (४३), कर्णशलाका उपसर्ग (४४), दुर्धर तप (४४), केवलज्ञान (४५), विद्वानों की खोज में (४५), प्राकृत (४६), गणधर (४७-५१), चतुर्विध संघ (५२), धर्म प्रचार और वर्षावास (५३), संघ प्रमाण (५४), परिनिर्वाण

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५५), पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों का आकलन (५५-५६), तीर्थङ्कर ऋषभदेव (५५), आचरण ज्ञान के ऊपर है (५८), अन्तगडसूत्र (६०)।

४. क्रोध का अभाव ही क्षमा है **६४-७०**

स्वानुभूति और धर्म (६४), क्षमा : अर्थ और प्रतिपत्ति (६५), क्रोध: कारण और प्रतिफल (६६), क्रोध को दूर करने का उपाय (६७), क्षमा के उदाहरण (६८)।

५. जीवन की सरलता ही मृदुल है **७१-७६**

संकल्प और जागरण (७१), मार्दव का अर्थ (७२), अहङ्कार : प्रकृति और परिणाम (७३), अहङ्कार से मुक्त होने के उपाय (७४), मृदुता के उदाहरण (७५)।

६. जीवन की निष्कपटता ही ऋजुता है **७७-८१**

अर्थ और स्वरूप (७७), माया और प्रतिक्रिया (७७), प्रकृति और स्वभाव (७८), श्रेयार्थ की ऋजुता।

७. जीवन की निर्मलता ही शुचि है **८२-८७**

अर्थ और प्रतिपत्ति (८२), स्वरूप (८२), शुचिता का विस्तार (८३), विरोधी भाव लोभ (८३)।

८. सत्य : साधना की ओर बढ़ता पदचाप **८८-९३**

अर्थ और प्रतिपत्ति (८८), साधन और स्वभाव (८८), चिन्तन की सार्थकता (८९), सत्य के प्रकार (९०), सांसारिक सत्य (९१), अनन्त सम्भावनाओं से भरा सत्य (९२)।

९. मन पर नकेल लगाना ही संयम है **९४-९९**

संयम की डोर (९४), मन पर नकेल लगाना स्वानुभूतिपूर्वक (९४), संयम और अनुशासन (९५), संयम : निषेध से विधेय की ओर (९७)।

१०. स्वस्थ होना ही उत्तम तप है **१००-१११**

तप और आध्यात्मिक स्वास्थ्य (१००), तप और साधक (१०१), तप एक ऊर्जा है (१०२), तप के प्रकार—बाह्यतप (१०४), आभ्यन्तर तप (१०७), तप का आधार चारित्रिक विशुद्धि(११०)।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. राग द्वेष भाव का विसर्जन ही त्याग है ११२-११७

अर्थ और प्रतिपत्ति (११२), त्याग और दान (११३), त्याग और इन्द्रियवृत्ति (११५), मूर्च्छा और त्याग (११६)।

१२. निर्ममत्व की ओर बढ़ना ही आकिञ्चन्य है ११८-१२२

अर्थ और प्रतिपत्ति (११८), साधना का मूल उद्देश्य (११९), अहम और मन का त्याग (१२०)।

१३. आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है १२३-१२९

अर्थ और प्रतिपत्ति (१२३), ब्रह्मचर्य और आधुनिक मनोविज्ञान (१२४), स्वानुभव की चेतना और ध्यान (१२५), ब्रह्मचर्य : आत्मचिन्तन की चरित्र परिणति (१२६), ब्रह्मचर्य : अध्यात्म जागरण का सूत्र।

सहायक ग्रन्थ-सूची १३०-१३४

मुख्य शब्द-सूची १३५-१३६

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१

पर्युषण : सही दृष्टि देने वाला महापर्व

व्यक्ति साधारण तौर पर भौतिक चकाचौंध में इतना अधिक अन्धा हो जाता है कि उसे पञ्चेन्द्रिय वासनाओं के दुष्फलों की ओर सोचने का भी बोध जाग्रत नहीं होता। वह काम, क्रोधादि विकारों में आपाद मग्न रहता है और धर्म की वास्तविकता को पहचानने से इन्कार कर देता है। इस इन्कार करने की तसवीर को बदलने के लिए आध्यात्मिक पर्व निश्चित ही अमोघ साधन का काम करते हैं।

पर्युषण पर्व का अर्थ

पर्व के अनेक अर्थ होते हैं। यथा — बांस या पौधों या अंगुलियों की पोरियों का सूचक होता है—पर्व। वह महीनों का विभाग करता है और पुस्तक के अध्याय-परिवर्तन को भी सूचित करता है। मत्स्यपुराण (१४८.२८.३२) के अनुसार पर्व धार्मिक कार्यों के लिए अच्छे अवसर प्रदान करता है। इस दृष्टि से अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा और संक्रान्ति ये सभी पर्व ही हैं। जब पूर्णिमा अथवा अमावस्या का अन्त होता है और प्रतिपदा का प्रारम्भ होता है उस काल को भी पर्व कहा जाता है। श्रावक प्र० टीका (३२१) के अनुसार जैन परम्परा में भी ऐसे ही समय को पर्व का अभिधान दिया गया है।

ऐसे पर्वों में पर्युषण (पज्जुसणा) पर्व अथवा दशलक्षण पर्व का विशेष महत्त्व है। जैन संस्कृति में यह पर्व साधारणत: वर्षावास प्रारम्भ होने के ५० दिन बाद प्रारम्भ होता है। वर्षायोग का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर से हो जाता है और कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर में उसकी समाप्ति होती है। किसी विशेष प्रसङ्ग में साधु चातुर्मास के बाद भी पन्द्रह दिन तक और रुक सकता है।

चातुर्मास के पीछे जीवों का संरक्षण और आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण मुख्य ध्येय रहा है। इस दृष्टि से चातुर्मास के लगभग मध्य भाग में इस महापर्व का प्रारम्भ हुआ है। भाद्रपद मास वैसे ही कल्याणकारी माना गया है। इस महापर्व का प्रारम्भ दिगम्बर परम्परा में भाद्रपद शुक्ल पंचमी से होता है और श्वेताम्बर परम्परा में यह पर्व इसके आठ दिन पूर्व शुरू हो जाता है और भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी का दिन संवत्सरी के रूप

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मनाया जाता है। पर दिगम्बर परम्परा इसे दस दिन तक मनाती है। वहाँ यह पर्व पञ्चमी से प्रारम्भ होता है और चतुर्दशी तक चलता है। श्वेताम्बर परम्परा में इसे पर्युषण पर्व कहा जाता है और दिगम्बर परम्परा इसे दशलक्षण पर्व के नाम से पुकारती है। यहाँ भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी एक ऐसा दिन है, जिसे दोनों परम्परायें स्वीकार करती हैं। एक दिन का ही पर्युषण मानने वाली अन्यतम श्वेताम्बर परम्परा इसे संवत्सरी अथवा खमतखामणा के रूप में मनाकर पारस्परिक मनोमालिन्य को दूर करती है, जबकि दिगम्बर परम्परानुयायी पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा को क्षमावाणी पर्व मनाती है; क्योंकि पूर्णिमा तक रत्नत्रय व्रत चलते हैं। इस तरह यह पर्व लगातार बीस दिन तक चलता रहता है।

पर्युषण की परम्परा

परम्परानुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के काल को छोड़कर शेष बाईस तीर्थङ्करों के समय में वर्षावास का निश्चित विधान नहीं था। दोष की कोई सम्भावना न होने पर साधु कितने ही समय तक एक स्थान पर रह सकता है। यदि दोष की सम्भावना हो तो एक माह भी उसे वहाँ नहीं रहना चाहिए (बृहत्कल्पभाष्य, ६४३५)।

परन्तु प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के समय वर्षावास का एक निश्चित विधान रहा है। तदनुसार आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी तक वर्षावास कर लेना चाहिए। निशीथचूर्णि (३१५३) के अनुसार किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह वर्षावास काल एक माह बीस दिन तक और आगे बढ़ाया जा सकता है। इसके बाद साधु को हर कीमत पर भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को वर्षावास कर ही लेना चाहिए। इसके समर्थन में समवायांग (७०वां स्थान, आयारदशा ८, कप्पदसा) का वह स्थल प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि तीर्थङ्कर महावीर ने भी वर्षावास के पचासवें दिन पर्युषण किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दिगम्बर परम्परा इसी दिन से पर्युषण पर्व प्रारम्भ करती है और श्वेताम्बर परम्परा उसे संवत्सरी अथवा क्षमावाणी पर्व के रूप में मनाती है। जो भी हो, यह दिन दोनों परम्पराओं में समान रूप से क्षमा पर्व के रूप में मनाया जाता है।

यह पर्व आध्यात्मिक संस्कृति का एक अलौकिक पर्व है। इसमें समाज का हर व्यक्ति जप, तप, स्वाध्याय और अनुष्ठान में लगा रहता है। श्वेताम्बर आगमों में पर्युषण के लिए दो शब्द मिलते हैं — पज्जुसणा और पज्जोसमणा। कल्पसूत्र आदि की टीकाओं में 'पज्जुसणा' के अनेक पर्यायार्थक शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ इस प्रकार है —

१. पज्जोसमणा (पर्योपशमना) — इस समय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी ऋतुबद्ध पर्यायों का परिहार किया जाता है और तपश्चरण, केशलुंचन,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण आदि क्रियायें- साधनार्थ की जाती हैं। इन साधनाओं से क्रोधादि कषायों का उपशमन हो जाता है।

२. पज्जुसणा (पर्युषणा) — इस समय देव-शास्त्र-गुरु की उपासना की जाती है। यह वर्षावासीय अवस्थिति का सूचक है।

३. परियायउवणा — साधु की दीक्षा-पर्याय की गणना पर्युषण काल से होती थी।

४. पागइया — प्राकृतिक रूप से यह पर्व साधु एवं गृहस्थ वर्ग के लिए समाराधनीय है।

५. पढमसमोसरण — वर्षावास के प्रथम माह का प्रथम दिन है। आषाढ़ी पूर्णिमा को संवत्सर समाप्त होने के बाद श्रावणी प्रतिपदा से प्रारम्भ होने वाले नये वर्ष का प्रथम दिन है। दिगम्बर परम्परानुसार महावीर की प्रथम देशना श्रावणी प्रतिपदा को ही हुई थी। इसलिए इसे पढमसमोसरण कहा जाता है।

ये सभी शब्द व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना के आस-पास घूमते दिखाई देते हैं। पर्युषण शब्द का अर्थ ही है— **परि समन्तात् उषणा वासः पर्युषणा** अथवा **परि समन्तात् ओषति दहति समूलं कर्मजालं यत् तत् पर्युषणम्** अर्थात् सम्पूर्ण रूप से आत्मा के समीप बैठकर कर्मजाल को भस्म करना पर्युषण है। सम्यक् तप, सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि के माध्यम से जीवन की सही पहचान कर आत्मसिद्धि प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि जीवन के कृष्ण पक्ष से प्रारम्भ कर आत्मा की कलुषता को दूर कर त्याग, तपस्या आदि के माध्यम से शुक्लपक्ष अर्थात् निर्मल क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।

जीवन को सम्हालने और सम्हारने की दृष्टि से हमारे आराध्य तीर्थङ्करों और आचार्यों के उदाहरण हमें प्रेरक सूत्र के रूप में उपस्थित रहें, इस दृष्टि से श्वेताम्बर समाज में अन्तकृद्दशासूत्र, दशवैकालिकसूत्र और कल्पसूत्र की वाचना की जाती है। इन सूत्रों को आठ दिनों में विभाजित कर लिया जाता है। अन्तकृद्दशासूत्र में तो वर्ग भी आठ ही हैं। इसी तरह कल्पसूत्र के तीन भाग हैं — तीर्थङ्करों का जीवन चरित्र, स्थविरावली और सामाचारी। स्थानकवासी परम्परा में अन्तकृद्दशा और दशवैकालिकसूत्र का वाचन होता है, तो मूर्तिपूजक परम्परा में कल्पसूत्र का। तेरापंथी परम्परा में किसी ग्रन्थ विशेष का वाचन नहीं होता, यहाँ आहार आदि विभिन्न संयमों पर आचार्य या मुनि व्याख्यान देते हैं। इन व्याख्यानों में तीर्थङ्करों का अनुकरण कर जिन आचार्यों ने जिस प्रकार की आत्मसाधना की उसका समुचित वर्णन व पठन-पाठन इस पर्व में हो जाता है। दिगम्बर परम्परा में इन दिनों क्षमादि दस धर्मों का विवेचन किया जाता है, जो जीवन को पवित्र बनाने में साधक होते हैं। ये दोनों परम्परायें एक-दूसरे की परिपूरक हैं। इसलिए इस

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्युषणकल्परूप को आठ या दस दिन का न होकर अठारह या बीस दिन का होना चाहिए।

दशलक्षण धर्म की परम्परा

समवायांगसूत्र, पंचशतकप्रकरण, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों में वर्षावास का सन्दर्भ पर्युषणकल्प के नाम से आया है और इस समय को अध्यात्म-साधना की दृष्टि से अधिक उपयुक्त बताया गया है। इसलिए दशलक्षणमूलक धर्म की आराधना के लिए आचार्यों ने इस महापर्व की स्थापना की है। तीर्थङ्कर महावीर भी वर्षावास करते रहे हैं। इसका उल्लेख जैन-बौद्ध आगमों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

दशलक्षण पर्व की स्थापना आगमों के आधार पर उत्तरकाल की देन है। कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा के बाद कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कदाचित् सर्वप्रथम इसका व्यवस्थित उल्लेख आता है।[१] स्वामी कार्तिकेय ने आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण किया है। कुन्दकुन्द ने अनुप्रेक्षाधिकार में उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का स्पष्ट उल्लेख किया है। स्थानाङ्ग (१०.१६) में भी धर्म के दश भेद किये गये हैं, पर वहाँ दूसरे क्रम पर मुक्ति और पांचवें क्रम पर लाघव का उल्लेख है; जबकि कुन्दकुन्द की परम्परा में इनके स्थान पर शौच और आकिञ्चन्य धर्मों को नियोजित किया गया है। इन दोनों परम्पराओं में क्रम-व्यत्यय भी देखा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में 'सत्य' के स्थान पर शौच और शौच के स्थान पर 'सत्य' का प्रयोग हुआ है।[२] इन सभी का आधार कदाचित् आचाराङ्ग (६.५) का वह सूत्र है, जिसमें कहा गया है— सभी को इन आठ धर्मों का उपदेश ग्रहण करना चाहिए — संति (क्षान्ति), विरतिं (विरति), उवसयं (उपशम), णिव्वाणं (निवृत्ति), सोयं (शौच), अज्जवियं (आर्जव), मद्दवियं (मार्दव) और लाघवियं (लाघव)। इसी परम्परा को उत्तरकाल में दश धर्मों के रूप में विकसित किया गया है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी के समान ही समवायांग और अन्तकृद्दशांगसूत्र में दश धर्मों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। प्रवचनसारोद्धार (५५४) में 'मुक्ति' के स्थान पर त्याग और आवश्यकचूर्णि (२.११६) में मुक्ति का उल्लेख है, पर वहाँ तप के स्थान पर 'त्याग' को समाहित किया गया है।

इन उल्लेखों से लगता है मुक्ति, लाघव, त्याग और तप के आकलन में अन्तर अवश्य हुआ है। पर यह कोई विशेष अन्तर नहीं है। वे सब वस्तुतः एक-दूसरे से अत्यन्त सम्बद्ध हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन श्रमण धर्मों के क्रम में भी कुछ अन्तर रहा है। उदाहरण के तौर पर मूलाचार (७५२) में क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिंचन, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म गिनाये गये हैं। यहां शौच के स्थान पर लाघव को रखा गया है। इसका तात्पर्य है श्वेताम्बर परम्परा और मूलाचार परम्परा जुड़ी हुई रही है। मूलाचार को कुन्दकुन्द का ग्रन्थ यदि हम मान लें

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो यह निष्पत्ति हो सकती है कि उनके समय तक दोनों परम्परायें चल रही थीं। उत्तरकाल में कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वादशानुप्रेक्षा (७० गाथा) में लाघव वाली परम्परा को छोड़कर क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म स्वीकार कर लिये। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा इन्हीं दश धर्मों को इसी क्रम में स्वीकार करती है।

इन धर्मों के साथ श्वेताम्बर परम्परा में ''साधु'' अथवा ''उत्तम'' ये दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए ठाणांग (५.४१) में 'साधु' और उत्तराध्ययन (९.५८) में 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग हुआ है। पर दिगम्बर परम्परा में 'उत्तम' विशेषण का ही प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है।[३] वैसे दोनों शब्द लगभग समानार्थक हैं। यद्यपि ये धर्म मुख्यत: साधु वर्ग के लिए हैं (द्वादशानुप्रेक्षा, ६८)। पर यथाशक्ति श्रावकों द्वारा भी उनका पालन किया जाना चाहिए (पञ्चविंशति, ६.५९)। 'साधु' और 'उत्तम' विशेषणों के पीछे आचार्यों का यही उद्देश्य रहा है कि साधक धर्माराधना में ख्याति, पूजा, सत्कार आदि का भाव न रखे, बल्कि निवृत्तिमार्ग में अपनी चेतना को अधिष्ठित किये रहे। (रा०वा०, ९.६.२६; उत्तरा०, ९.५८)।

उपर्युक्त धर्मों की व्याख्या आचार्यों ने श्रावकों और साधुओं के लिए की है। इसी को अणुव्रत और महाव्रत कहा जाता है। यह तो परम्परा रही ही है कि साधु श्रावक को पहले यतिधर्म का उपदेश दे और यदि वह उसकी शक्ति के बाहर दिखे तो फिर श्रावक धर्म की व्याख्या करे। अमृतचन्द्राचार्य ने इसी का पालन किया है। पर हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दुप्रकरण का प्रारम्भ ही श्रावक धर्म से किया है। अत: यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में ये दोनों पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं।

पर्युषणकल्प का अर्थ

पर्युषण का अर्थ हम देख ही चुके हैं। पर्युषणकल्पसूत्र के अनुसार 'कल्प' शब्द का अर्थ है — आचार, मर्यादा अथवा सामाचारी। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण (पद्य, १४३) में इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस कार्य या आचरण से ज्ञान, शील, तप आदि की वृद्धि हो और उनके विघातक दोषों का नाश हो वह कल्प कहलाता है —

सज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं च दोषाणाम्।

कल्पयति निश्चये यत् तत्कल्पमवसेयम्।।

बृहत्कल्पसूत्र में दस कल्पों का वर्णन मिलता है —

(१) आचेलक्य — अचेलकता, नग्नता अथवा अल्पवस्त्रता। इन्हें क्रमश: जिनकल्पी और स्थविरकल्पी श्रमण कहा जाता है। इन्हें अचेलक और सचेलक भी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता है।

(२) औद्देशिक — किसी श्रमण को लक्ष्य कर जो आहारादि बनाया जाय तो वह उस श्रमण को तो नहीं ग्रहण करना चाहिए, पर अन्य श्रमणों के लिए वह ग्रहणीय है।

(३) शय्यातरपिण्ड — शय्या का तात्पर्य है उपाश्रय, स्थानक आदि। इन्हें बनानेवाला संसार-समुद्र से पार हो जाता है। ऐसे उपाश्रय आदि बनाने वाले गृहस्थ के भोजन को शय्यातरपिण्ड कहा जाता है। ऐसा भोजन श्रमण के लिए निषिद्ध है।

(४) राजपिण्ड — राजा का भोजन भी निषिद्ध है।

(५) कृतिकर्म — ज्येष्ठ श्रमणों का सम्मान करना, विनय करना।

(६) व्रत — बारह व्रतों का पालन करना।

(७) ज्येष्ठकल्प — अपने से ज्येष्ठ श्रमणों का समादर करना। यहाँ ज्येष्ठता का निर्णय छेदोपस्थापनीय चारित्र को ग्रहण करने न करने के आधार पर किया जाता है। यहाँ चिरदीक्षिता साध्वी के लिए भी नवदीक्षित साधु वन्दनीय माना गया है।

(८) प्रतिक्रमण — आत्मालोचन कर अपने मूल स्वभाव में वापस आना।

(९) मासकल्प — वर्षाकाल के अतिरिक्त कहीं भी एक माह से अधिक नहीं ठहरना।

(१०) पर्युषणकल्प — पर्युषण पर्व को मनाना ।

इन कल्पों में आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषणाकल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के समय ही विहित हैं तथा शेष चार कल्प चौबीसों तीर्थङ्करों के समय मान्य हैं (आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र १२१)।

इस पर्युषणाकल्प में साधु वर्ग के लिए पांच विशेष कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है — सांवत्सरिक प्रतिक्रमण, केशलोंच, यथाशक्ति तपस्या, आलोचना और क्षमापना। यहाँ हम इन पर पृथक् रूप से विचार नहीं कर रहे हैं। पर इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि इन कर्तव्यों का पालन करने से साधु में संसार की अनित्यता और आत्मा के स्वभाव पर चिन्तन गहरा होता जाता है। इसलिए इस पर्व को जागरण पर्व कहा जाना चाहिए। धर्म के सही रूप को समझने और उसे आत्मसात करने का यह सर्वोत्तम मार्ग है।

पर्युषण पर्व का उद्देश्य

हमारे कर्म और भाव हमारे मन पर अव्यक्त रूप में संस्कार की रेखायें निर्मित कर देते हैं और वही संस्कार पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। तथागत बुद्ध ने तो उदान

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पांच सौ जन्मों तक संस्कारों के प्रभाव की बात स्वीकार की है। इन भावों का एक आभामण्डल बन जाता है और उसी के अनुसार हमारे भावी जन्मग्रहण की प्रक्रिया शुरु होती है। महावीर की रूपान्तरण प्रक्रिया नयसार या सिंह पर्याय से प्रारम्भ होती है और महावीर तक आते-आते समाप्त हो जाती है।

पर्युषण पर्व पर तीर्थङ्कर महावीर के जीवनचरित और उनके पूर्व भवों पर विशेष चर्चा की जाती है। इसके पीछे दो दृष्टिकोण मुख्यत: रहे हैं। पहला यह कि आत्मा के अस्तित्व के साथ ही कर्म के अस्तित्व की अवधारणा को स्वीकारना और दूसरा कि महावीर के चरित को सुनकर स्वयं की आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का संकल्प करना।

जीवन उत्थान-पतन की कहानी है, सुख-दुःख का संगम है। कोई भी व्यक्ति दुःखों के बीच नहीं रहना चाहता। सुख-दुःख में कार्य-कारणभाव का सम्बन्ध है। बिना कारण के उनकी अवस्थिति नहीं मानी जा सकती है। सुख-दुःख की अवस्थिति का कारण ज्ञात होने पर व्यक्ति के जीवन में रूपान्तरण आ सकता है और वह संसार की नश्वरता का चिन्तन करता हुआ अपना आचरण विशुद्ध बना सकता है। जीवन को विशुद्धता और सरलता-सहजता की ओर ले जाना ही पर्युषण का मुख्य ध्येय है। जीवन को धार्मिकता की ओर उन्मुख कर सांसारिक कष्टों से मुक्त कराना ही उसका लक्ष्य है।

धर्म का स्वरूप

भारतीय संस्कृति में धर्म के अनेक अर्थ मिलते हैं। उन अर्थों में कर्तव्य और स्वभाव अर्थ अधिक लोकप्रिय रहा है। धर्म की सारी परिभाषायें इन दोनों अर्थों के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। यहीं निश्चय और व्यवहार का दार्शनिक क्षेत्र भी समाहित हो जाता है।

जैनाचार्यों ने धर्म की व्याख्या निवृत्तिवादी दृष्टि से अधिक की है। स्वयं निवृत्ति के पुजारी होने के कारण धर्म का सम्बन्ध उन्होंने संसरण से मुक्त करानेवाले साधन से स्थापित किया है तथा अहिंसा और दया को धर्म की प्रकृति मानकर उसे आत्मा का स्वभाव बताया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान और दर्शन क्रोधादिक विकार भावों के कारण आवृत्त हो गया है। वस्तु का स्वभाव उसकी क्षणभंगुरता है और वही उसका धर्म है। इस धर्म को हृदयस्थ करने से क्षमादि भाव स्वत: स्फुरित हो जाते हैं। इससे व्यक्ति की चेतनता में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय पनप जाते हैं और श्रावकधर्म से मुनिधर्म की ओर जाने के लिए शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर उसके कदम आगे बढ़ जाते हैं। इसीलिए धर्म गुरु भी है और मित्र भी है।[४]

धर्म की इन सारी परिभाषाओं में समय-समय पर विकास हुआ है। उनमें दो तत्त्व स्पष्ट रूप से सामने आते हैं, पहला यह कि धर्म का अर्थ स्वभाव है और जीव

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रिय सुख नहीं। अतः अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है। जिस अनुष्ठान से इस आनन्द की प्राप्ति होती है वह धर्म है। इसकी प्राप्ति में साधन और साध्य दोनों परम विशुद्ध और अहिंसक होना चाहिए।[५]

दूसरा तत्त्व है — राग, द्वेष, मोह के कारण जन्म-जन्मान्तरों में भटकना और सांसारिक दुःखों में जीना। इसलिए धर्माचार्यों ने सांसारिक दुःखों का खूब वर्णन किया है। नरकों के दुःखों और स्वर्ग के सुखों के वर्णन के पीछे यही दृष्टि रही है कि व्यक्ति हिंसादि क्रियाओं से दूर रहकर पारस्परिक सहयोग और मैत्रीभाव से अपना समययापन करे। इस दृष्टि से धर्माचार्य चिकित्सक के रूप में हमारे सामने आये हैं और उन्होंने प्रस्थापित किया है कि जीवों का रक्षण करना ही धर्म है।[६]

ब्राह्मण संस्कृति विस्तारवादी रही है, जहाँ से भक्तिशास्त्र का उद्भव हुआ है। अवतारवाद और समर्पणवाद भी वहीं पनपा है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति संकोचवादी और संघर्षवादी रहा है। वहाँ अवतारवाद को कोई स्थान नहीं है। वहाँ तो उत्तारवादी दृष्टिकोण रहा है। विषय-वासनाओं की सहज-सरलधारा के विपरीत चलना उसकी संघर्षवादी दृष्टि है। संसार उसका घर नहीं है। उसका घर तो है मोक्ष, जहाँ वह धर्म की आराधना कर वापिस पहुँच जाता है। तीर्थङ्करों के प्रति श्रद्धा और भक्ति उसका साधन अवश्य है, वह व्यवहारतः उनकी शरण में जाने की बात भी करता है, पर मूलतः अशरण और एकत्व की भावना पाकर वह परम धर्म का पालन करता है इसलिए उसके लिए वे कल्याणमित्र हैं।

जैन संस्कृति ने संसार को सत्य माना है, माया नहीं माना। संसार की वास्तविकता को समझने से ही धर्म को समझा जा सकता है इसलिए जैनधर्म की भाषा ध्यान की भाषा है, पूजा की नहीं। ध्यान के माध्यम से वह पर-पदार्थों से मोह को तोड़ता है जहाँ मात्र शुद्ध चैतन्य बच जाता है। यही परम सत्य है जो जीवन के मन्थन से प्राप्त हो पाता है।

धर्म का सम्बन्ध जैनधर्म में जन्म से नहीं कर्म से है। उसका सम्बन्ध अन्तश्चेतना से है, इसलिए धार्मिक होना सरल नहीं होता। वह एक दुरूह साधना का फल है। वह दृढ़संकल्प और परिश्रम से मिल पाता है। अहं और मम के त्याग से ही वह उपलब्ध हो पाता है। शरीर और आत्मा तथा मैं और पर के बीच भेदविज्ञान हो जाना ही सही धार्मिक होना कहा जा सकता है। स्वानुभूति के बिना यह धार्मिकता नहीं आती।

इस स्वानुभूति और धार्मिकता का सम्बन्ध किसी अवस्था विशेष से नहीं है। उसे हम बुढ़ापे की दवा भी नहीं कह सकते। वह तो वस्तुतः प्रारम्भ से ही सुसंस्कारित होने का साधन है। इन्द्रियाँ जब शक्तिशाली होती हैं, शरीर तरुण होता है; तब उनसे संघर्ष कर सही धार्मिकता को प्राप्त किया जा सकता है। यदि हमारी आंखें सही हैं,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि में भेदविज्ञान है, तो स्वानुभूति के लिए विषय सर्वत्र हैं। बस, साधक को सत्य का खोजी होना चाहिए।

सत्य की खोज के लिए साधक दान, पूजा, व्रत, त्याग आदि के माध्यम से बाह्य अनुष्ठान करता अवश्य है, पर उसका आन्तरिक अनुष्ठान वीतरागता और समता की साधना करना है। बाह्य अनुष्ठान व्यवहारधर्म की परिधि में रहता है और आन्तरिक अनुष्ठान को निश्चय धर्म कहा जाता है। बाह्य अनुष्ठान निश्चय धर्म तक पहुँचने के लिए एक सशक्त माध्यम है। इसी निश्चय-सापेक्ष व्यवहार धर्म में क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्म प्रकट होते हैं। दशलक्षण पर्व के दश दिनों में इन्हीं धर्म की व्याख्या की जाती है। इन्हीं पर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन होता है। इन्हीं को पालन करने का प्रयत्न किया जाता है। ये सभी धर्म यद्यपि एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं, पर उन पर पृथक्-पृथक् चिन्तन कर साधक अपना चित्त धर्म की ओर मोड़ सकता है और जीवन के सही अर्थ को समझ सकता है इसीलिए इसे महापर्व कहा जाता है।

इस महापर्व का सम्बन्ध तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव तथा उनकी परम्परा को संपोषित करने वाले तीर्थंकर महावीर से रहा है। इसलिए आगे के पृष्ठों में हम उनके तथा उनके द्वारा प्रवेदित दश धर्मों के विषय में कुछ जानकारी प्रस्तुत करेंगे।

सन्दर्भ

१. धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।। — कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७८.

२. उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इति दसविहं होदि।। वही, गाथा ७०
(त०सू०, ९.६; भ०आ०वि० ४६.१५४.१०)

३. दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् - स०सि०, ९.६.४१३५; रा०वा०, ९.६.२६; उत्तरा०, ९.५८; उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजादिनिवृत्त्यर्थम् - चा०सा०, पृ० ५८.

४. धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं बिना।। — ज्ञानार्णव, २.१०.

५. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्तः उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतावलम्बनः। स०सि०, ९.७.

६. जीवाणं रक्खणं धम्मो। का०अ०मू०, ४७८.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२

तीर्थङ्कर ऋषभदेव और उनकी सांस्कृतिक परम्परा

जैन संस्कृति का मूल उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना और उसको साधना के माध्यम से विकसित करना रहा है। जैन श्रमण-साधना के धनी होते हैं, आचार-विचार के पक्के होते हैं, उनकी समूची चर्या में वीतरागता भरी रहती है। स्व-पर कल्याण के भाव सने रहते हैं, जो मन को अमन कर देते हैं और संकल्प को दृढ़ बनाते हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव ऐसे ही महाश्रमण हुए हैं, जिनसे जैन परम्परा का आदि स्रोत जुड़ा हुआ है।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव जैन सांस्कृतिक परम्परा के ही आद्य महादेव नहीं थे बल्कि समूची भारतीय संस्कृति के भी प्रणेता थे। वैदिक साहित्य में उनके समानान्तर उल्लेख इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करते दिखाई देते हैं कि वे वस्तुत: सर्वमान्य महापुरुष थे, जिन्होंने परम वीतरागता की साधना करने के साथ ही समाज को कर्मठता का सन्देश दिया।

एक समय था जब ऋषभदेव की प्राचीनता पर और उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया जाता था, पर जबसे प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य के उल्लेखों का उद्‌घाटन हुआ है तबसे वह विवाद लगभग समाप्त होता जा रहा है और एक स्वर में उन्हें आदिपुरुष के रूप में प्रतिष्ठा मिलती जा रही है।

आदिपुरुष से सम्बद्ध प्राचीन उद्धरणों से हम आपको बोझिल नहीं करना चाहेंगे, पर इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि ऋग्वेद (२.३३.१०, १०.२२३, १०.११.१३६), अथर्ववेद (१५.१.१.१, १५.२.३.१.२) आदि वैदिक ग्रन्थों में दशों उल्लेख ऐसे आये हैं जिनसे उन्हें अर्हत्, मुनि और व्रात्य मण्डल के शीर्षस्थ नेता के रूप में स्मरण किया गया है। ऋग्वेद में वातरशना मुनि और हिरण्यगर्भ के रूप में उनकी ही स्तुति की गयी है। व्रात्य मण्डल में निर्दिष्ट व्रात्य परम्परा केशी-ऋषभ की परम्परा को भली-भाँति समाहित किये हुए है। जिनसेन ने अपने सहस्रनाम में इन्हीं शब्दों को आदिनाथ के साथ भली-भाँति प्रयुक्त किया है।

पुराणकाल तक आते-आते तीर्थङ्कर ऋषभदेव निर्ग्रन्थ परम्परा के आदिदेव के **रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं हुए**, बल्कि उनके अवदान का मूल्यांकन करते हुए श्रीमद्भागवत

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराण के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने पञ्चम स्कन्ध में भगवान् विष्णु के आठवें अवतार के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित कर दिया। वहाँ उनका समूचा चरित्रांकन करते हुए दिगम्बर जैन परम्परा के प्रवर्तक, योगीश्वर परमहंस, वातरशना श्रमणों के मूर्धन्य महापुरुष कहकर उनकी मनोरम स्तुति की है। इतना ही नहीं, उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर ही 'भारत' देश के अभिधान को आख्यायित किया गया है (५.४.९)।

वैदिक और जैन साहित्य के उल्लेखों के आधार पर आज यह मान्यता बलवती-सी होती जा रही है कि ऋषभदेव और शिव अभिन्न व्यक्तित्व रहे होंगे, दोनों के व्यक्तित्व की समानताएं इस तथ्य का समर्थन करती नजर आती हैं। यदि इसे हम सत्य मान लें तो यह कह सकते हैं कि ऋषभदेव के द्वारा प्रतिष्ठित जीवन-सूत्रों का आधार लेकर ही निवृत्ति और प्रवृत्ति परम्परा का सूत्रपात हुआ। व्यक्ति के विविध स्वभावों और पक्षों की भूमिका पर ही निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा और वैदिक परम्परा का निर्माण हुआ। भक्ति परम्परा का उद्भव भी इसी स्रोत से हुआ। कदाचित् यही कारण है कि ऋषभ के पौत्र व भरत के पुत्र मारीचि को पुराणों में वैदिक धर्म का प्रवर्तक कहा गया है, यह मारीचि वही व्यक्तित्व हो सकता है, जिसने आगे चलकर महावीर के रूप में जन्म ग्रहण किया और जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थङ्कर के रूप में प्रतिष्ठा पायी।

इस सन्दर्भ में हम पुराण साहित्य पर विशेष ध्यान दें, तो ऋषभदेव की प्राचीन परम्परा पर संयुक्तिक प्रकाश पड़ता है। 'पुराण' शब्द चूँकि अपने आप में एक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य तथा परम्परा का आकलन करता है, इसलिए उसे हम बिल्कुल प्रामाणिक भले ही न कहें पर उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

वैदिक पुराण साहित्य में अवतारवाद का विकास हुआ है, यह हम सभी जानते हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव को विष्णु का अवतार मानने वालों में श्रीमद्भागवतपुराण को छोड़कर अन्यत्र किसी भी पुराण में इसका वर्णन नहीं मिलता। गरुड़पुराण (२६.३०.१३) में इतना अवश्य कहा गया है कि **अग्नीध्र** के ९ पुत्रों में नाभि एक पुत्र था, जिसे मरुदेवी से ऋषभ पुत्र हुआ। ऋषभ का पुत्र भरत था जो **शालिप्रभ** का उपासक और व्रतधारी था। यहाँ भरत के पुत्र तेजस को परमेष्ठी और योगाभ्यासी कहा गया है। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि पुराणकाल तक आते-आते ऋषभदेव जैन परम्परा के आदिपुरुष हैं, की मान्यता स्थापित हो चुकी थी।

पुराणकाल में ऋषभदेव और शिव की एकाकारता भी दिखाई देती है। लिङ्गपुराण में शिव की तीन प्रकार की मूर्तियों का वर्णन मिलता है। अलिङ्गी, लिङ्गी और लिङ्गालिङ्गी इसी सन्दर्भ में शिव की आराधना में उन्हें नग्न, दिग्वास और ऋषभ कहा गया है— **भस्म पासु दिग्वासो नग्नो विकृत लक्षणः** (२२-२८; **नमो दिग्वाससे नित्यम्,** २२.१; **ग्राम्याणाम् वृषभश्चासि** २२.७। यहीं शिव को वृषभध्वज भी कहा गया है

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उन्हें दिगम्बरत्व और नग्नत्व का पोषक माना गया है। इसी सन्दर्भ में विष्णुपुराण का वह उद्धरण भी उल्लेखनीय है, जहाँ दिगम्बर, मुण्ड, बर्हिपिच्छधर, दिग्वास, वीतराग, अनेकान्तवाद, अर्हत् जैसे जैनधर्म के विशिष्ट शब्दों का उल्लेख हुआ है (१८.१.३०)।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव की प्राचीनता के सन्दर्भ में वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत का विशेष अवदान दिखाई देता है। ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना का उल्लेख श्रमण ऋषियों के लिए इस पुराण में भी आया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के ऋषभदेव और वातरशना ऋषि समुदाय जैन परम्परा से ही सम्बद्ध थे। वहाँ उन्हें श्रमण धर्म प्रवर्तक, दिगम्बर संन्यासी तथा उर्ध्वचेता कहा गया है।

जीवन घटनाएँ

तीर्थङ्कर ऋषभदेव अन्तिम कुलकर नाभिराज के पुत्र थे। उनकी माता मरुदेवी थीं। ईक्ष्वाकुवंशी नाभिराज अयोध्या के एक लोकप्रिय राजा थे। तरुण होने पर नाभिराज ने ऋषभदेव का विवाह सुनन्दा और सुमंगला से कर दिया। सुनन्दा ने तेजस्वी पुत्र बाहुबली और पुत्री सुन्दरी को जन्म दिया और सुमंगला ने भरत सहित ९९ पुत्रों और ब्राह्मी पुत्री को जन्म दिया।

समय आने पर ऋषभदेव ने भरत को अयोध्या का, बाहुबली को तक्षशिला का और शेष युवराजों को उनकी योग्यतानुसार राज्य सौंपकर संसार त्याग दिया और दीक्षा लेकर साधना में लीन हो गये। साधनाकाल में पाणिपात्री ऋषभदेव एक वर्ष तक निराहार रहे। बाद में बाहुबली के पौत्र श्रेयांस कुमार ने इक्षुरस देकर उनकी इस निराहारवृत्ति को तोड़ा। लगातार एक हजार वर्ष तक तपस्या करनेवाले मुनि ऋषभदेव ने अन्त में केवलज्ञान प्राप्त किया और धर्मदेशना प्रारम्भ की। प्रथम धर्मदेशना भरत के पुत्र मारीचि को दी, जो बाद में चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर बने। इसी तरह ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी तीर्थङ्कर ऋषभदेव से दीक्षा ले ली। भरत के अन्य ९८ भाइयों ने भी जिन दीक्षा लेकर अपना आत्मकल्याण किया।

इधर भरत चक्रवर्ती में सम्राट बनने की प्रबल आकांक्षा जागी। उन्होंने आत्मसमर्पित होने के लिए सभी नरेशों के पास दूत भेजे। महाबली बाहुबली को छोड़कर सभी नरेशों ने भरत का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। व्यर्थ में प्राणीहिंसा न हो इस दृष्टि से दोनों भाइयों के बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और मल्लयुद्ध हुआ। उनमें बाहुबली विजयी हुए। भरत ने अपनी पराजय से क्रुद्ध होकर बाहुबली के ऊपर चक्र चलाया, पर वह बाहुबली का घात किये बिना ही वापिस आ गया। सगोत्रज और चरम शरीरी का वह वध नहीं करता। यह देखकर भरत लज्जित हुए तथा बाहुबली को साम्राज्य-लिप्सा से ग्लानि हुई, फलतः उन्होंने राज्य त्यागकर जिन दीक्षा ले ली और

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठोर तप किया। बाद में केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण भी प्राप्त किया।

भरत-बाहुबली युद्ध की ये सारी घटनायें पोदनपुर में हुई थीं जिसकी अवस्थिति आज भी विवादास्पद बनी हुई है। अधिक सम्भावना यही है कि यह पोदनपुर दक्षिण में होना चाहिए।

जहाँ तक आदिनाथ ऋषभदेव के सांस्कृतिक अवदान का प्रश्न है, वे एक संस्कृति विशेष के पुरोधा तो थे ही, साथ ही उन्होंने मानव को सामाजिकता का पाठ भी पढ़ाया। भोगभूमि से कर्मभूमि की ओर आने का समय एक संक्रान्ति काल था और संक्रान्ति काल के वातावरण को अपने अनुरूप बनाना सरल नहीं था। ऋषभदेव ने इस दुरूह कार्य को सरल बना दिया।असि, मसि, कृषि, वाणिज्य-विद्या और शिल्प की शिक्षा के साथ ही चौसठ या बहत्तर कलाओंका अध्ययन भी उनके योगदान के साथ जुड़ा हुआ है। समाज ने इन सारी कलाओं को समरसतापूर्वक आत्मसात किया और **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** के आधार पर अहिंसा और अपरिग्रह की चेतना को नया स्वर दिया। अस्तित्व के प्रश्न को जितनी सुदृढ़ता के साथ यहाँ समाधानित किया गया है वह अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सह-अस्तित्व और सहभागिता पर आधारित जैनधर्म को प्रस्थापित करने का श्रेय तीर्थङ्कर ऋषभदेव को ही जाता है। उनके द्वारा प्रवेदित सूत्र ही उत्तरकालीन जैनधर्म की आधारशिला रहे हैं। दण्ड-व्यवस्था, राज-व्यवस्था, विवाह-प्रथा, व्यवसाय, खाद्य समस्या का हल, शिक्षा, कला और शिल्प आदि क्षेत्रों में उन्होंने नयी व्यवस्था को जन्म दिया।

तीर्थङ्कर अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमलनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनि सुव्रतनाथ, नमिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर तीर्थङ्कर भी इसी परम्परा में हुए है, इनमें से हम यहाँ अन्तिम तीन तीर्थङ्करों द्वारा दिये गये अवदान पर विचार करेंगे।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि

तीर्थङ्कर ऋषभदेव की परम्परा में बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि हुए, जो बड़े प्रभावशाली महापुरुष थे। अनेक जन्मों को पार करने के बाद वे यमुना तट पर अवस्थित शौर्यपुर के राजा समुद्रविजय और रानी शिवादेवी के पुत्र रूप में जन्मे। यादववंशी समुद्रविजय के अनुज का नाम था वसुदेव, जिनकी दो रानियाँ थीं, रोहिणी और देवकी। रोहिणी के पुत्र का नाम बलराम या बलभद्र था और देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण।

श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि की अनेक बाल लीलाएं प्रसिद्ध हैं, शक्ति प्रदर्शन भी अनेक बार हुआ है, जिनमें अरिष्टनेमि सदैव जीतते रहे हैं। यह शायद उनके ब्रह्मचर्य

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रताप रहा है। अरिष्टनेमि के विवाह का आयोजन भोजवंशी उग्रसेन की पुत्री राजमती के साथ हुआ, पर विवाह के लिए वध्य पशुओं को देखकर उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे जिन दीक्षा लेकर तपस्या करने निकल पड़े। राजमती ने भी बाद में दीक्षा ले ली। अरिष्टनेमि ने कठोर तपस्या करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त किया और फिर सिद्ध हो गये। उनकी यह भविष्यवाणी अक्षरशः सिद्ध हुई कि यादवों की उद्दण्डता के कारण द्वैपायन मुनि के क्रोध से द्वारिका नगरी बारहवें वर्ष में जल जाएगी।

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर के रूप में इतिहास में विश्रुत हैं। उनके दस पूर्वजन्मों का वर्णन मिलता है। उनका जन्म इक्ष्वाकुवंशीय उग्रवंश में हुआ था। उनके पिता अश्वसेन और माता ब्राह्मी या वामा थीं। अश्वसेन काशी के राजा थे। वे कदाचित् अविवाहित ही रहे। उन्होंने संसार छोड़कर जिनदीक्षा ले ली और अनेक उपसर्ग सहन करते हुए निर्वाण प्राप्त किया। उनकी शासन देवी पद्मावती रही हैं।

पालिपिटक में पार्श्वनाथ के चातुर्याम का उल्लेख अनेक बार हुआ है। नाग, द्रविड आदि जातियों में उनकी मान्यता असन्दिग्ध है। उनका निर्वाण सम्मेदशिखर पर हुआ था। अतः वे निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

तीर्थङ्कर महावीर

पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बाद तीर्थङ्कर महावीर हुए। जीव की जन्म परम्परा तो अनादि रही है, पर जिस जन्म में जीव की जीवन-दृष्टि में साधारण-सा परिवर्तन आया, उसी जन्म से इस शृंखला का प्रारम्भ करते हैं। महावीर का पूर्व जन्म इस दृष्टि से पुरुरवा से प्रारम्भ होता है जो मारीचि, जटिल, विश्वभूति, नयसार, महाशुकदेव, त्रिपृष्ठ, सिंह आदि जन्मों में घूमता हुआ वैशाली के राजकुमार महावीर के रूप में जन्म स्थिर हुआ।

वर्धमान महावीर और जैनधर्म

तीर्थङ्कर महावीर भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और ऐतिहासिक महापुरुष हुए है। वे जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थङ्कर माने जाते हैं। उन्होंने हिंसा, पुरुषार्थ और समता का पाठ देकर जो जन-कल्याण किया है वह अपने आपमें अनूठा है। उनकी वैचारिक संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाता है जिसमें समता और श्रमवादी विचारधारा समन्वित है।

भारत सरकार से सम्बद्ध एनसीआरटी के पाठ्यक्रम में तीर्थङ्कर महावीर के सन्दर्भ में जो पाठ दिया गया है वह इतिहास-परम्परा से अनभिज्ञता को सूचित करता है। उसी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आलोक में हम यहाँ सप्रमाण उसका खण्डन करते हुए तथ्यों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

तीर्थङ्कर परम्परा

जैसा पहले कहा जा चुका है, जैन परम्परा के अनुसार महावीर के पहले तेईस तीर्थङ्कर और हो चुके हैं जिन्होंने मानवता का सन्देश दिया।[1] उनमें प्रथम तीर्थङ्कर हैं ऋषभदेव जिनके पिता का नाम नाभि कुलकर और माता का नाम मरुदेवी था। वे हमारी संस्कृति के उन्नायक और आद्य प्रवर्तक थे। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प के जन्मदाता वही माने जाते हैं। ऋग्वेद आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में उनका उल्लेख हुआ है। उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा है।[२]

भगवान् शिव, राम और कृष्ण के समान प्रथम बाईस तीर्थङ्करों की यह परम्परा भी अर्ध-ऐतिहासिक है; क्योंकि साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त पुरातात्त्विक सामग्री उनके विषय में उपलब्ध नहीं होती। बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे और तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर महावीर से लगभग २५० वर्ष पहले हुए। पार्श्वनाथ और महावीर, दोनों ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर जैनधर्म के न तो संस्थापक हैं और न प्रवर्तक। वे तो वस्तुत: तीर्थङ्कर ऋषभदेव से चली आ रही परम्परा के प्रचारक और प्रसारक हैं।[३]

जैनधर्म के इन सभी तीर्थङ्करों की जन्मभूमि और कर्मभूमि होने का गौरव मध्यदेश को मिला है, विशेष रूप से मध्य-गंगा मैदान और बिहार को। यहाँ के जनपदों का इतिहास भले ही छठी शताब्दी ई०पू० से प्रारम्भ होता है पर पुरातात्त्विक प्रमाणों से यहां मानव का अस्तित्व लगभग छह हजार ई०पू० मिलता है। इसलिए पौराणिक परम्परा को एकदम झुठलाया नहीं जा सकता।[४]

महावीर : पूर्वभव की परम्परा का परिणाम

जैन संस्कृति कर्मप्रधान संस्कृति है, उसमें, आत्मा को स्वभावत: अनादि, अविनश्वर और विशुद्ध मानकर उसे मिथ्यात्व और मोह के कारण संसारबद्ध बताया गया है। आत्मा अनन्त शक्ति का स्रोत है।

संसारावस्था में यह शक्ति अविकसित और अप्रकट रहती है। शनै: शनै: भेदविज्ञान होने पर वह अपनी मूल अवस्था में आ जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उसे अगणित जन्म-जन्मान्तर भी ग्रहण करने पड़ते हैं।

महावीर के इन जन्म-जन्मान्तरों अथवा पूर्वभवों का वर्णन उत्तर पुराण, समवायाङ्ग, आवश्यक निर्युक्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, महावीरचरित, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों में महावीर के जीव के पूर्वभव सम्बन्ध का प्रारम्भ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषभदेव के पुत्र भरत और भरत की महिषी अनन्तमति के पुत्र मरीचि से किया गया है।

महावीर के ऐसे तैंतीस अथवा सत्ताईस प्रमुख भवों का वर्णन मिलता है— (१) पुरुरवा अथवा नयसार ग्राम चिन्तक, (२) सौधर्मदेव, (३) मरीचि, (४) ब्रह्मस्वर्ग का देव, (५) जटिल अथवा कौशिक ब्राह्मण, (६) सौधर्म स्वर्ग का देव, (७) पुष्पमित्र ब्राह्मण, (८) अग्निद्योत अथवा अग्निसह ब्राह्मण, (९) सौधर्म स्वर्ग अथवा द्वितीयकल्प का देव, (१०) अग्निमित्र अथवा अग्निभूत ब्राह्मण, (११) महेन्द्रसागर का देव, (१२) भारद्वाज ब्राह्मण, (१३) माहेन्द्र स्वर्ग का देव, (१४) स्थावर ब्राह्मण, (१५) स्थावर ब्राह्मण, (१६) विश्वनन्दि अथवा विश्वभूति, (१७) महाशुक्र स्वर्ग का देव, (१८) त्रिपुष्ठ नारायण, (१९) सातवें नरक का नारकी, (२०) सिंह, (२१) प्रथम या चतुर्थ नरक का नारकी, (२२) प्रियमित्र चक्रवर्ती, (२३) महाशुक्र कल्प का देव, (२४) नन्दन या नन्दराज, (२५) लानत या प्राणत स्वर्ग का देव, (२६) देवानन्दा के गर्भ में, (२७) त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर। इस बीच हरिषेण, कनकोज्वल राजा, सहस्रार स्वर्ग आदि में भी महावीर की जीव ने जन्म ग्रहण किया था।

इन भावों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जीव कभी धर्म धारण करने पर सौधर्म स्वर्ग के सुखों को भोगता है तो कभी कुमार्गगामी होकर सप्तम नरक के भी दारुण दुःखों को भोगता है। महावीर का जीव संसरण करता हुआ अपनी सिंह पर्याय में अजितंजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि से सम्बोधन पाता है और नयसार के भव में मुनि को आहारदान और उनके पवित्र उपदेश से उसके जीवन में परिवर्तन आता है।

उसके अन्तःकरण से क्रूरता का विषाक्त भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है और वह रौद्ररस के स्थान पर शान्तरस को ग्रहण कर लेता है। पुन: वह साधना से भटक भी जाता है किन्तु अन्त में पुन: प्रबुद्ध होकर अपना चरम विकास कर लेता है।

पूर्व भव की परम्परा पर आज की प्रगतिशील पीढ़ी को भले ही विश्वास न हो पर यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं कि हमारी जन्म परम्परा हमारी कार्य परम्परा पर आधारित है। विश्व के लगभग सभी धर्म पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो आदि पाश्चात्य विचारक भी उस पर आस्था करते दिखाई देते हैं।

'रीइंकारनेशन' जैसी अनेक पुस्तकें भी सामने आयी है। अनेक वैज्ञानिक संस्थाएं इस तत्त्व पर शोध कर रही हैं। इसका सर्वप्रथम श्रेय रायबहादुर श्यामसुन्दरलाल को दिया जा सकता है जिन्होंने सन् १९२२-२३ में इस प्रकार की घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ किया।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे कर्म और भाव हमारे मन पर अव्यक्त रूप में संस्कार की रेखाएं निर्मित कर देते हैं और वही संस्कार पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। तथागत बुद्ध ने तो उदान में पांच सौ जन्मों तक संस्कारों के प्रभाव की बात स्वीकार की है।

इन भावों का एक आभामण्डल बन जाता है और उसी के अनुसार हमारे भावी जन्म ग्रहण की प्रक्रिया शुरू होती है। महावीर की रूपान्तरण प्रक्रिया नयसार या सिंह पर्याय से प्रारम्भ होती है और महावीर तक आते-आते समाप्त हो जाती है।

पर्युषण पर्व पर तीर्थङ्कर महावीर के जीवनचरित और उनके पूर्व भवों पर विशेष चर्चा की जाती है। इसके पीछे दो दृष्टिकोण मुख्यतः रहे हैं। पहला यह कि आत्मा के अस्तित्व के साथ ही कर्म के अस्तित्व की अवधारणा को स्वीकारना और दूसरा यह कि महावीर के चरित को सुनकर स्वयं की आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का संकल्प करना।

जीवन उत्थान-पतन की कहानी है। वह सुख-दुःख का समन्वित रूप है। सुख-दुःख के बीच नहीं रह पाता। सुख-दुःख में कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध है। बिना कारण उनकी अवस्थिति नहीं मानी जा सकती है। सुख-दुःख की अवस्थिति का कारण ज्ञात होने पर व्यक्ति के जीवन में रूपान्तरण आ सकता है और वह संसार की नश्वरता का चिन्तन करता हुआ अपना आचरण विशुद्ध बना सकता है। जीवन की विशुद्धता और सरलता सहजता की ओर ले जाना ही पर्युषण का मुख्य ध्येय है।

तीर्थङ्कर महावीर का अवतरण

इसी बिहार के वैशाली (वसाढ) नगर के समीपवर्ती कुण्डग्राम में महावीर का जन्म आज से ५९९ ई०पू० चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। यह वैशाली वज्जी गणतन्त्र की राजधानी थी। उनके पिता ज्ञातृकुलीय लिच्छवी क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ थे, जो इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्री थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था जो विदेह राजा चेटक की पुत्री थी। मिथिला और विदेह का यह राजनीतिक सम्बन्ध कालान्तर में आध्यात्मिक सम्बन्ध से जुड़ गया। महावीर के जन्म होते ही राज्य में समृद्धि का युग आ गया इसलिए उनका नाम "वर्धमान" रखा गया।[५]

तेजस्वी बालक वर्धमान बचपन से ही प्रतिभा के धनी थे। इसलिए उन्हें किसी आचार्य की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे बाल्यावस्था से ही बड़े शक्तिशाली और साहसी राजकुमार थे। लगभग आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक दिन खेलते-खेलते ही एक भयानक भीमकाय सर्प की पूंछ पकड़कर उसे बहुत दूर फेंक दिया। तब से उन्हें "महावीर" कहा जाने लगा।[६] इसी तरह उनके जीवन के विविध प्रसंगों के कारण ही

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें वीर, सन्मति और अतिवीर भी कहा जाता है।

राजकुमार वर्धमान गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भोग और वासनाओं में निरासक्त थे। संसार की गहनता और असारता का अनुभव उन्हें हो चुका था। आध्यात्मिक चिन्तनशीलता रात-दिन बढ़ती चली जा रही थी। फलस्वरूप लगभग तीस वर्ष की भरी युवावस्था में उन्होंने घर-बार छोड़ दिया और परम वीतरागी सन्त के रूप में कठोर तपस्या करने लगे।[७] इस महाभिनिष्क्रमण से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक उन्होंने लगभग बारह वर्ष तक भीषण उपसर्ग सहे, यातनायें भोगी और समभाव से समीपवर्ती प्रदेशों में पैदल भ्रमणकर आत्मसाधना की।[८] अन्त में राजगृह के पास ऋजुकुला नदी के तटवर्ती शालवृक्ष के नीचे तपस्या करते हुए गोधूलि वेला में महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति की। अब वे अर्हन्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये।[९]

केवलज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर ने स्वानुभूति से प्राप्त जीवन-दर्शन को बिना किसी भेदभाव के सभी जाति और सम्प्रदाय के लोगों तक पहुंचाने का संकल्प किया। वे राजगृह की ओर बढ़े जहां विपुलाचल पर्वत पर तैयार किये गये विशाल समवशरण (पाण्डाल) में बैठकर सभी प्राणियों को समान भाव से जीवन सन्देश दिया। इसी समवशरण में इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा आदि ग्यारह प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान भी अपनी शिष्य मण्डली सहित वहाँ पहुँचे। उन्होंने महावीर से कुछ दार्शनिक प्रश्न पूछे और सन्तुष्ट हो जाने पर वे उनके अनुयायी हो गये। महावीर ने उन्हें फिर अपने-अपने संघ का नेता बना दिया और "गणधर" की संज्ञा दे दी। महावीर के उपदेशों को अभिव्यक्ति देने का कार्य इन्हीं गणधरों ने किया था।[१०]

गणधरों के शिष्य बन जाने पर महावीर की लोकप्रियता और भी अधिक बढ़ गयी। साथ ही उनके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ने लगी। यह देखकर महावीर ने गणों की स्थापना की और इन विद्वान् गणधरों की देखरेख में चार प्रकार के संघ की नींव डाली जिनमें श्रावक, श्राविका, श्रमण (मुनि) और श्रमणी (आर्यिका) सम्मिलित थे।[११]

तीर्थङ्कर महावीर ने अपने तीस वर्षीय धर्म के प्रचार काल में जैनधर्म को भारतवर्ष के कोने-कोने में फैला दिया। उनका भ्रमण विशेषत: उत्तर, पूर्व, पश्चिम और मध्य भारत में अधिक हुआ। श्रावस्ती नरेश प्रसेनजित, मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार, चम्पानरेश दधिवाहन, कौशाम्बीनरेश शतानीक, कलिंगनरेश जितशत्रु आदि जैसे प्रतापी राजा महाराजा भगवान् के कट्टर भक्त और उपासक थे।[१२]

लगभग बहत्तर वर्ष की अवस्था तक महावीर ने सारे देश में पैदल भ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया। अन्त में उनका परिनिर्वाण मल्लों की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) में कार्तिक कृष्ण अमावस्या के प्रात:काल ई०पू० ५२७ में हुआ।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस पवित्र दिन की स्मृति स्वरूप उनके अनुयायी जैन लोग "दीपावली" मनाकर आत्मसाधना और ज्ञानाराधना का स्मरण करते हैं।[१३] पालि साहित्य में महावीर को "निगण्ठनातपुत्त" के नाम से उल्लेखित किया गया है। वे तथागत बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन चिन्तक थे।[१४] उत्तरकाल में महावीर का धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया -- दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्ण निर्वस्त्र अवस्था में मुक्ति मानता है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय सवस्त्र अवस्था को भी उनका अधिकारी बनाता है।

जैनधर्म और सिद्धान्त

तीर्थङ्करों में चूँकि महाश्रमण महावीर की ही वाणी हमारे पास श्रुति परम्परा से सुरक्षित है इसलिए जैनधर्म उन्हीं के नाम से विशेष रूप से जाना जाता है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है, प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अहिंसा, सत्य और अचौर्य इन तीन यामों में अपने समूचे दर्शन को प्रस्तुत किया था। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने उनमें अपरिग्रह को जोड़कर चार याम बना दिये[१५] और महावीर ने उनमें ब्रह्मचर्य को पृथक् कर पांच याम व्रतों का उपदेश दिया। अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुसार व्रतों में यह परिवर्धन होता रहा है। यद्यपि अहिंसा और सत्य में इन सभी व्रतों का अन्तर्भाव हो जाता है पर आचारिक शिथिलता को दूर करने के उद्देश्य से उन्हें पृथक् व्रतों का स्वरूप दिया गया है।

महावीर ने अपने धर्म को अहिंसा, संयम और तप से विशेष रूप से जोड़ा और उनके साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयपूर्वक आचरण को प्रतिष्ठित किया।[१६] आत्मा को अस्तित्व के केन्द्र में रखकर उन्होंने कर्मवाद को प्रस्थापित किया। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का कर्म ही उसके सुख-दुःख और पुनर्जन्म का कारण है।[१७] सृष्टि के उत्पन्न होने और उसे संरक्षित रखने में किसी ईश्वर विशेष का हाथ नहीं होता। वह तो अनेक कारणों से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, पर्यायों में परिवर्तित होता रहता है और मूल तत्त्व स्थायी रूप में निरन्तर बना रहता है।[१८]

तीर्थङ्कर महावीर ने यह भी कहा कि प्रत्येक प्राणी में तीर्थङ्कर होने की क्षमता है। इस क्षमता का विकास पूर्वोक्त रत्नत्रयपूर्वक बारह व्रतों के परिपालन से किया जा सकता है।[१९] गृहस्थ स्थूल रूप से जब उनका पालन करता है तो वे अणुव्रती कहलाते हैं और सूक्ष्मता से उनका पालन करने वाले मुनि महाव्रती कहलाते हैं।[२०]

अर्हन्त महावीर को इन्द्रिय विजयी होने के कारण "जिन" कहा जाता था और उनके अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म को आर्हत् या जिनधर्म। बाद में लगभग आठवीं सदी में उनके अनुयायियों को "जैन" कहा जाने लगा और उनके धर्म को "जैनधर्म" की संज्ञा दे दी गई। उनके इस धर्म को निर्वाणवादी धर्म भी कहा जाता था जिसमें आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है।[२१]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का धर्म, जाति, सम्प्रदाय और वर्ग विहीन धर्म था। उसमें व्यक्ति की पहचान उसके सम्यक् चारित्र से की जाती थी।[२३] जैनधर्म के महामन्त्र "णमोकार मन्त्र" में भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं बल्कि चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व को प्रणाम किया गया है। यह उसकी सार्वभौमिकता है।[२४]

जैन दर्शन की दृष्टि से सभी विचारों में सत्यांश रहता है इसलिए उसे नकारात्मक नहीं कहा जाना चाहिए बल्कि समुचित आदर देते हुए सापेक्ष दृष्टि से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। दूसरों की विचारधारा को गुणवत्ता की दृष्टि से सम्मान देने और संघर्ष टालने का यह एक अच्छा मार्ग है। शान्ति स्थापित करने का यह सही उपाय है। इसी को स्याद्वाद और अनेकान्तवाद कहा जाता है।[२५]

महावीर के धर्म की एक अन्यतम विशेषता है -- आध्यात्मिक साम्यवाद। महावीर ने धर्म का अर्थ ही समता किया है।[२६] उनके अनुसार संसार के सभी जीव समान हैं। सभी को अपनी चेतना को विकसित करने का समान अधिकार है। वे पूर्ण विशुद्ध चित्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। अत: इन्द्रिय संयमी होकर अहिंसा का परिपालन करना चाहिए। महावीर की अहिंसा में हिंसक कर्मकाण्ड को पूरी तरह से नकारा गया है और अहिंसक भक्ति परम्परा को स्वीकारा गया है।[२७]

जैनधर्म ने इसी तरह सामाजिक समता को जन्म देकर पारम्परिक वर्णव्यवस्था का खण्डन किया।[२८] उसने जातिवाद को अस्वीकार कर उसके स्थान पर स्वयंकृत कर्म की व्यवस्था दी। इसी आधार पर महावीर के संघ में सभी जाति के लोगों ने दीक्षा ली। चाण्डाल भी दीक्षित हुए।[२९] सभी समुदायों के बीच समता और एकात्मकता को स्थापित करने का यह एक ऐतिहासिक कदम था। बाद में भगवान् बुद्ध भी इसी कदम पर चले। समता के ही आधार पर नारी वर्ग को भी उन्होंने तत्कालीन दासता से मुक्त किया और पुरुष के समकक्ष खड़े होने और विकास करने का अवसर दिया।[३०] समता की इसी भूमिका के साथ महावीर ने अपरिग्रह धर्म में आर्थिक समानता को जन्म दिया और सर्वोदयवाद की प्रतिष्ठा की।[३१]

जैनधर्म का प्रचार-प्रसार

जैनधर्म का आविर्भाव यद्यपि मध्यदेश, विशेषत: बिहार और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में हुआ है पर उसका प्रचार-प्रसार समूचे भारतवर्ष में रहा है। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त, राष्ट्रकूट, चोल, गंग, चालुक्य, परमार, चन्देल, कल्चुरी आदि सभी वंशों के राजाओं ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया और उसकी अहिंसक वृत्ति की प्रशंसा की।[३२]

महावीरकाल में ही जैनधर्म की लोकप्रियता काफी बढ़ गई थी। उनके ही संघ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में व्रतियों की संख्या लगभग छह लाख थी।[३३] इस संख्या में ऐसे लोगों की गिनती नहीं है जो महावीर की विचारधारा के प्रशंसक और संवाहक रहे हैं।

जैनधर्म उत्तरापथ से दक्षिणापथ में महावीर से भी पहले चला गया था। आन्ध्र, उत्कल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक में महावीर के बाद उसमें अधिक लोकप्रियता आई। चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में चतुर्थ शती ई०पू० में एक विशाल संघ का वहाँ पहुँचना इस तथ्य को संकेतित करता है कि महावीर से भी पहले वहां जैनधर्म की अच्छी स्थिति थी।[३४] बौद्ध परम्परा के "महावंस" नामक ऐतिहासिक प्राचीन पालि काव्य से यह पता चलता है कि दक्षिण की जैन संस्कृति श्रीलंका में ई०पू० आठवीं शती में पहुंच चुकी थी। उस समय वहां निर्ग्रन्थों के ५०० परिवार रहते थे।[३५]

कहा जाता है, ऋषभदेव ने सुवर्ण भूमि, ईरान (पाण्डव), आदि देशों का भ्रमण किया था। पार्श्वनाथ नेपाल गये ही थे। अफगानिस्तान में जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता ही है। स्याम, काम्बुज, इथियोपिया, चम्पा, बलगेरिया आदि देशों में भी जैनधर्म का अस्तित्व मिलता है।[३६] इन स्थानों पर गम्भीरतापूर्वक पुरातात्त्विक ढंग से खोज होनी चाहिए।

जैनधर्म को राज्याश्रय भले ही न मिला हो पर उसे जनाश्रय अवश्य मिला है। यह भी सही है कि उसे अनेक भीषण घात-प्रतिघातों को सहना पड़ा है फिर भी अपनी आचारनिष्ठता के कारण उसके अस्तित्व को समाप्त नहीं किया जा सका। उसने जहाँ वैदिक और बौद्ध संस्कृति को प्रभावित किया है वहीं उनसे प्रभावित भी हुआ है।[३७]

जैनधर्म का योगदान

चारित्रिक दृढ़ता, पूर्ण शाकाहारी वृत्ति और विशुद्ध अहिंसक जीवन पद्धति ने जैनधर्म को यद्यपि बृहत्तर भारत से बाहर जाने को रोका है पर अपनी जन्मभूमि में ही रहकर उसने जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास में योगदान दिया है वह अविस्मरणीय है। कदाचित् ऐसा कोई क्षेत्र शेष नहीं रहा जिसमें जैनाचार्यों ने विशिष्ट योगदान न दिया हो।

तीर्थङ्कर महावीर ने सम-सामयिक परिस्थितियों का सूक्ष्म चिन्तन कर उस समय की बोली जाने वाली जनभाषा प्राकृत में अपना उपदेश देकर एक ऐसी मिसाल कायम की जो बिल्कुल अनूठी थी। इसी प्राकृत से आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने लगभग हर विधा में विपुल परिमाण में अपना साहित्य रचा और प्राकृत संस्कृत-अपभ्रंश के साथ ही हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं को भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। इस साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जैनधर्म के अनुयायी शास्त्र भण्डारों की स्थापना करते रहे

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इनके माध्यम से जैनों ने पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखने का अथक प्रयत्न किया है।

शास्त्र भण्डारों के समान जैनों ने मूर्तिकला, स्थापत्यकला, काष्ठकला और चित्रकला को भी बहुत समृद्ध किया है। समूचे भारतवर्ष में जैन मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में भी प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली हुई हैं।[३८]

इसी तरह जैनधर्म ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में चेतनता स्थापित कर उनको सुरक्षित रखने का आन्दोलन किया तथा किसी भी पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े की हिंसा न करने का विधान देकर प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाया है। पानी को गरमकर और छानकर पीना, रात्रि में भोजन न करना, मांसाहार से दूर रहना, मद्य, मधु, परस्त्री/पुरुष सेवन, शिकारखेलना, जुआ खेलना आदि व्यसनों से व्यक्ति को दूर रखने के लिए उन्हें व्रतों में सम्मिलित किया गया है। व्यक्ति को नियमों में बांधकर जैनाचार्यों ने शाकाहार और पर्यावरण को सुरक्षित तो किया ही है, साथ ही स्वस्थ रहकर अपराधमुक्त जीवन को बिताने का मार्ग भी प्रशस्त किया है।[३९]

न्यायपूर्वक धन कमाना, मिलावट न करना, पशुओं पर अधिक बोझ न लादना, झूठ न बोलना, दान देना, अतिथि सेवा करना, पुरुषार्थ करना आदि जैसे व्रतों ने सामाजिक समता को प्रस्थापित किया।[४०] अनावश्यक हिंसा से बचने का संकल्प देकर जैनधर्म ने संवेदनशीलता को बढ़ावा दिया, श्रमशीलता को जाग्रत किया, इच्छा परिमाण कराकर समाजवाद और सर्वोदयवाद को जन्म दिया, सम्यक् आजीविका का सूत्र देकर विशुद्ध मानसिकता को आधार बनाया, आहार शुद्धि और व्यसन मुक्ति का आह्वान् कर जीवन में संस्कारों की नींव डाली।

जैनधर्म की अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं बल्कि वीरों का आभूषण रही है।[४१] उसने जिस तरह जीवन जीने की कला दी है उसी तरह मरने की भी कला सिखायी है। मृत्यु को समीप देखकर पूर्ण निरासक्त हो जाओ और निराहारी होकर मृत्यु का स्वयं वरण कर लो यह अपूर्व शिक्षा जैनधर्म ने ही दी है। इसे "सल्लेखना" कहा जाता है।[४२]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म ने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जैनधर्म अलग से दिखाई दे या न दे; किन्तु जैनधर्म के चिन्तन ने युगचेतना को इतना अधिक प्रभावित किया है कि जैनधर्म और दर्शन तथा युगचिन्तन एकमेक हो गया है। उसकी वैज्ञानिक दृष्टि को आज कोई भी विवेकशील व्यक्ति नकार नहीं सकता।

आचार्य महाप्रज्ञ ने भी तीर्थङ्कर परम्परा पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पार्श्व और महावीर के पूर्व का जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल में चला जाता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम बाईस तीर्थङ्कर प्रागैतिहासिक काल के हैं। उस समय का धर्म प्राकृतिक धर्म था, प्रवर्तित नहीं था। महावीर ने उसका प्रवर्तन किया प्राचीन परम्परा के आधार पर। उनका धर्म अनुभूत धर्म है। आचार्य और उपदेष्टा हजारों हुए पर प्रवर्तक केवल चौबीस हुए।

तीर्थङ्कर परम्परा का प्रवर्तक होता है और आचार्य परम्परा का संचालक होता है, तीर्थङ्कर का प्रतिनिधि होता है। तीर्थङ्कर किसी परम्परा का प्रतिपादक ही नहीं होता, वह स्वयंबुद्ध भी होता है और अपने अनुभव के आधार पर धर्म का निरूपण करता है। इसलिए प्रत्येक तीर्थङ्कर को आदिकर और प्रवर्तक माना जाता है। वे धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। ऐसे चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं जो प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उनका आधार रहा है शान्ति स्थापन।

जे य बुद्धा अईक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसि पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा।।

धर्म का लक्षण है सत्य। महावीर की परम्परा निर्वाणवादी परम्परा थी, स्वर्गवादी परम्परा के विपरीत। यह पदार्थातीत चेतना के विकास का सिद्धान्त है।

जैनधर्म कैवलिक है, आत्मा का अनुभव जिसे हो गया उसके द्वारा कथित धर्म है। वह दुःखमुक्ति का मार्ग बताता है।

महावीर के पहले वह निर्ग्रन्थ प्रवचन और उसके पहले अहिंसा धर्म कहा गया। पार्श्व तक अर्हत् कहा गया और फिर महावीर को श्रमण कहा गया, निर्ग्रन्थ कहा गया। यह परिवर्तन इतिहास में होता रहता है, पर सभी तीर्थङ्कर निर्वाणवादी रहे हैं। इसी निर्वाणवादी परम्परा को हम आज जैनधर्म के नाम से जानते हैं।

पालि साहित्य में महावीर को 'निगण्ठो नातपुत्तो' कहा गया है और उनके अनुयायियों की आलोचना की गई है। महावीर की तो प्रशंसा ही वहां मिलती है। इसके विपरीत जैनागमों में बुद्ध की कहीं भी आलोचना नहीं की गई है। इससे भी स्पष्ट है कि जैनधर्म बौद्धधर्म परम्परा से प्राचीन है।

चौबीस तीर्थङ्करों की यह जैन परम्परा नन्दीसूत्र (२०-२१), आवश्यक (द्वितीय), भगवतीसूत्र (२०..८), समवायांग (२४८) और कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में भलीभाँति मिलती है। ये ग्रन्थ भले ही लगभग पाँचवीं शताब्दी के माने जाते हैं पर उनकी परम्परा प्राचीन सूत्र से जुड़ी हुई है।

पुरातात्त्विक उपलब्धियों में मोहनजोदड़ों में प्राप्त ऋषभदेव योगी की नग्न मूर्ति को छोड़ भी दिया जाये तो प्राचीनतम निर्विवाद जैन मूर्ति लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त हुई ही है। वहीं से एक और मूर्ति मिली है जो लगभग प्रथम सदी ई०पू० की है। हाथीगुम्फा शिलालेख 'कलिंग जिन' का उल्लेख करता ही है। प्रिन्स ऑफ वेल्स

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्यूजियम, मुम्बई में रखी एक जैन मूर्ति भी लगभग इसी समय की है। इससे इतना तो सिद्ध है ही कि जैन मूर्ति परम्परा लगभग चतुर्थ शती ई०पू० से तो है ही। इतना ही नहीं, जैन मन्दिरों का निर्माण भी तीसरी-दूसरी सदी ई०पू० से होने लगा था। मथुरा इस निर्मिति का प्रमुख केन्द्र था। यहां ऋषभ, सम्भव, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रत, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर की मूर्तियां विशेष लोकप्रिय रही हैं। कुषाणकाल के बाद गुप्तकाल में यहां ऋषभ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर को 'पंचेन्द्र' की संज्ञा दी गई है। वैभारगिरि, सोणभद्र गुफा, चौसा, उदयगिरि (विदिशा), सिर पहाड़ी आदि स्थानों पर पृथक-पृथक् रूप से भी जैन मूर्तियां मिली हैं। इनके निर्माण में भी एक विकास रेखा खींची जा सकती है। पर लगता है, ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर की मूर्तियां विशेष प्रचलित रही हैं। फिर भी यह कहना तथ्यसंगत ही है कि कुषाणकाल में चौबीस तीर्थङ्करों की परम्परा कला क्षेत्र में प्रस्थापित हो चुकी थी, भले ही उनके लाञ्छनों में स्थैर्य आगमोत्तरकाल में आया हो।

इस परम्परा की तुलना वैदिक और बौद्ध परम्परा के साथ भी कर लेनी चाहिए जिससे उसकी तथ्यात्मकता को आंका जा सके। इन दोनों परम्पराओं में अवतारों और बुद्धों की परम्परा प्रसिद्ध ही है। सम्भव है, जैन परम्परा से ये परम्परायें प्रभावित रही हैं।

सन्दर्भ

१. समवायांग, २४,१४७; कल्पसूत्र, तीर्थङ्कर वर्णन; आवश्यकनिर्युक्ति, ३६९; आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, आवश्यकचूर्णि, भाग १-२; महापुराण; पद्मपुराण ५.१४ आदि।

२. महापुराण, १४.१६०-१६५; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २.३०; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १.२.६४७-६५३; आवश्यकनिर्युक्ति, ११९-१२०; श्रीमद्भागवत, ५.४.२; और भी देखिये, डॉ० स्टीवेन्सन (कल्पसूत्र की भूमिका); डॉ० राधाकृष्णन् (भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २८७) आदि विचारकों ने भी ऋषभदेव की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है।

ऋषभदेव और उनके अनुयायी समुदायों के सन्दर्भ देखें -- **व्रात्य-** अथर्ववेद का व्रात्यकाण्ड; **देवासुर संग्राम** - ऋ० १०.२२-२३; ६.२५.२; १०.१००.३२); **दास-दस्यु** (ऋ० १.१३०.८; ९.४१.१; ऋ० ४.३०.२०; २.११.४); **केशी-ऋषभ** (ऋ० १०.१३१.१); **ऋषभ और हिरण्यगर्भ** (ऋ० १०.१२१; २.८; १०.१.४.५); **अर्हन्** (ऋ० १.६.३०; ५.४.५२; २.१:३.३); **वातरशना और केशी मुनी** (ऋ० १०.११.१३६) आदि; बौद्ध साहित्य के उल्लेखों को देखिए लेखक की पुस्तक Jainism in Buddhist Literature (प्रथम अध्याय)।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. पउमचरियं, १.१-७. यहाँ तीर्थङ्करों की आयु, ऊँचाई आदि की प्रतीक पद्धति को समझना होगा।

४. देखिए, मध्यदेश- धीरेन्द्र वर्मा, पटना, १९६७; An Encyclopaedia of Indian Archaeology, 2 Volumes, edited by A. Ghosh, Delhi, 1989; Indian Archaeology 1962-63 — A Review, edited by A. Ghosh, Delhi, 1965; Ayodhya — Archaeology after Demolition by D. Mandal, Orient Longman, Hyderabad, 1993.

५. वर्द्धमानचरित्र, १७.५८; सूत्रकृतांग २.३; कल्पसूत्र ११.

६. आचारांगचूर्णि, भाग १, पत्र २४६; वर्धमानचरित्र, ७.९५.

७. जयधवला, भाग १, पृ० ७८; तिलोयपण्णत्ति, ४.६६७; उत्तरपुराण, ७४.३०३-४.

८. आवश्यकचूर्णि, पृ० २७५-९२; आचारांग, ९.१.९-२०; ९.३-४-५; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०.३.२९-३३; कल्पसूत्र, ११६; आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३२०-२२.

९. जयधवला, भाग १, पृ० ८०; तिलोयपण्णत्ति, ४.१७०-१; कल्पसूत्र, १४७; लेखक का ग्रन्थ देखिए — *Jainism in Buddhist Literature*, नागपुर, १९७२, प्रथम अध्याय.

१०. षट्खण्डागम, भाग ९, पृ० १२९; विशेषावश्यकभाष्य, १५४०-१९४७.

११. उत्तरपुराण, ७४.३७३-७४.

१२. आवश्यकचूर्णि, उत्तर भाग, पृ० १६९; उवासगदसाओ, पृ० २५; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०.६.४०८-३९.

१३. उत्तरपुराण,कल्पसूत्र १२६, १४७; दीघनिकाय.

१४. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, भाग १, पृ० ५७.

१५. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २३, नेमिचन्द्रटीका, पत्र २९७.१; मज्झिमनिकाय (रोमन), भाग १, पृ० २३८; भाग २, पृ० ७७.

१६. दशवैकालिकसूत्र, १.१.

१७. पंचास्तिकाय, ९२८-९३०; सूत्रकृतांग, २.५.१६.

१८. आप्तमीमांसा, ५९; उपासकाध्ययन, २४६-४९.

१९. तत्त्वार्थसूत्र, ९.९; तत्त्वार्थवार्तिक, ९.९-५१; सूत्रकृतांग, १.१२.११.

२०. उवासगदसाओ, १-४७; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३.६; चारित्रप्राभृत, १३.

२१. समयसार, आत्मख्याति; मोक्खपाहुड, ५.६; परमात्मप्रकाश, १.१३-१७.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. उत्तराध्ययन, २५,२९-३१; १२.३७; कषायप्राभृत, १.८; प्रवचनसार, १.७.

२३. उत्तराध्ययन, २५.१९-२७.

२४. देखिए, लेखक की पुस्तक "मूकमाटी : चेतना के स्वर", नागपुर, १९९६.

२५. सन्मतिप्रकरण, १.१२; तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.६.४; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७६; आप्तमीमांसा, २०८; तत्त्वार्थवार्तिक, १.६.४.

२६. प्रवचनसार, १.७.

२७. उवासगदसाओ, १.४३; आदिपुराण, ३९.१४७; उपासकाध्ययन, ३२०.

२८. उत्तराध्ययन, २५.२९-३१.

२९. उत्तराध्ययन, बारहवाँ अध्याय.

३०. उत्तराध्ययन, २२.२३.

३१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६२; दशवैकालिक, ४.१५.

३२. देखिये, लेखक की पुस्तक - जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ० ३२३-४१.

३३. कल्पसूत्र, १३३.१४४; उत्तरपुराण, ७४.३७३-७८; तिलोयपण्णत्ति, ४.११६६-७६; हरिवंशपुराण, ६०.४३२-४०.

३४. *Studies in South Indian Jainism,* p. 110-11.

३५. महावंस, ३३.७९.

३६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, पृ० ७३-७५; आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, ३३६-३७; Journal of the Royal Asiatic Society of Bangal, Jan. 1885.

३७. देखिए लेखक का आलेख - उपनिषदों पर जैनधर्म का प्रभाव, ऋषभदेव फाउण्डेशन, दिल्ली.

३८. देखिए, लेखक का ग्रन्थ- 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास', जैन पुरातत्त्व, पृ० ३४२-८१ और तीर्थङ्कर महावीर और उनका चिन्तन, धूलिया १९७७.

३९. आचारांग, शस्त्रपरीक्षा.

४०. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५७; तत्त्वार्थसूत्र, ७.१५; सागारधर्मामृत, ५१; रत्नकरण्डश्रावकाचार ६७; चारित्रप्राभृत, २२.

४१. यः शस्त्रवृत्ति समरे रिपुः स्याद्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमैव अस्त्राणि नृपाः क्षिपन्ति, न दीनकानीन कदाशयेषु।। यशस्तिलकचम्पू.

४२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५.१; सर्वार्थसिद्धि, ७.२२; भगवतीआराधना, १९२२.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३

महावीर और उनकी परम्परा

पर्युषण पर्व आष्टाह्निक पर्व के रूप में भी मनाया जाता है। इसे अठाई महोत्सव के नाम से भी जाना जाता है— अट्ठाहिता रूवाओ महामहिमाओ करेमाणा (जीवाभिगमसूत्र, नन्दीश्वर द्वीप वर्णन)। इन्हीं दिनों कल्पसूत्र का सामूहिक वाचन किया जाता है। इसके स्थान पर कहीं-कहीं अन्तगडसूत्र का उपयोग किया जाता है।

कल्पसूत्र छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ उद्देश है। इसे पर्युषण कल्प कहा जाता है। पर्युषणपर्व में इसी का सामूहिक वाचन होता है। कहीं-कहीं इसके स्थान पर अन्तगड सूत्र का भी उपयोग किया जाता है। कल्पसूत्र की रचना परम्परानुसार आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई है। पहले इसका वाचन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद श्रमण संघ में ही होता था पर उत्तरकाल में इसे चतुर्विध संघ के बीच पढ़ा जाने लगा। इसका प्रारम्भ आचार्य कालक ने राजा ध्रुवसेन के कल्याणार्थ किया था।

कल्पसूत्र प्राकृत भाषा में लिखित गद्यात्मक ग्रन्थ है जिसमें १२१५ अनुष्टुप प्रमाण सूत्रों में तीर्थङ्कर महावीर तथा उनकी पूर्व और उत्तरवर्ती परम्परा का आलेखन हुआ है। इसके मूल २९१ सूत्रों का वाचन संवत्सरी के दिन होता है और इसके पहले पर्युषण के दिनों में उसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। इसमें तीन अधिकार हैं— तीर्थङ्कर चरित्र, स्थविरावली और साधु समाचारी। तीर्थङ्कर चरित्र के कुल २३२ सूत्रों में से १५२ सूत्रों में भगवान् महावीर का चरित, ८० सूत्रों में शेष २३ तीर्थङ्करों के चरित्र का वर्णन किया गया है और बाद में स्थविरावली तथा समाचारी को प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि पीछे हम एक विशेष उद्देश्य से तीर्थंकर महावीर के सन्दर्भ में संक्षिप्त विवरण लिख चुके हैं पर यहाँ कुछ विस्तार से उसे कल्पसूत्र के आधार पर दे रहे हैं। साथ ही आचाराङ्ग, महावीरचरित, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों का भी यथास्थान उपयोग करते हुए उपलब्ध सामग्री को तुलनात्मक रीति से पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कल्पसूत्र में विलोम पद्धति का उपयोग कर सर्वप्रथम महावीर का और अन्त में ऋषभदेव का व्याख्यान किया गया है चमत्कारात्मक ढंग से। इस पद्धति का उपयोग कदाचित् इसलिए हुआ है कि चौबीसों तीर्थङ्करों में निकटतम तीर्थङ्कर महावीर रहे हैं। इसलिए प्रथमत: उन्हीं का स्मरण किया गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर : पूर्वभव की अक्षुण्ण परम्परा का परिणाम

जैन संस्कृति कर्मप्रधान संस्कृति है। उसमें आत्मा को स्वभावत: अनादि, अविनश्वर और विशुद्ध मानकर उसे मिथ्यात्व और मोह के कारण संसारबद्ध बताया गया है। आत्मा अनन्त शक्ति का स्रोत है। संसारावस्था में यह शक्ति अविकसित और अप्रकट रहती है। शनैः-शनैः भेद-विज्ञान होने पर वह अपनी मूल अवस्था में आ जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उसे अगणित जन्म-जन्मान्तर भी ग्रहण करने पड़ते हैं।

महावीर के इन जन्म-जन्मान्तरों अथवा पूर्वभवों का वर्णन कल्पसूत्र, उत्तरपुराण,समवायांग, आवश्यकनिर्युक्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, महावीरचरित्र आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों में महावीर के जीव के पूर्वभव-सम्बन्ध का प्रारम्भ ऋषभदेव के पुत्र भरत और भरत की महिषी अनन्तमति के पुत्र मरीचि से किया गया है। दिगम्बर परम्परा में महावीर के ऐसे तैतीस प्रमुख पूर्वभवों का वर्णन है पर श्वेताम्बर परम्परा उनकी संख्या सत्ताईस निर्धारित करती है। ये दोनों परम्पराएँ इस प्रकार हैं—

दिगम्बर परम्परा	**श्वेताम्बर परम्परा**
१. पुरूरवा भील	१. नयसार ग्रामचिन्तक
२. सौधर्मदेव	२. सौधर्मदेव
३. मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्मस्वर्ग का देव	४. ब्रह्मस्वर्ग का देव
५. जटिल ब्राह्मण	५. कौशिक ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्ग का देव	६. पुष्यमित्र ब्राह्मण
७. पुष्यमित्र ब्राह्मण	७. सौधर्मदेव
८. सौधर्म स्वर्ग का देव	८. अग्निद्योत
९. अग्निसह ब्राह्मण	९. द्वितीय कल्प का देव
१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव	१०. अग्निभूति ब्राह्मण
११. अग्निमित्र ब्राह्मण	११. सनत्कुमार देव
१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१२. भारद्वाज
१३. भारद्वाज ब्राह्मण	१३. माहेन्द्र कल्प का देव

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव त्रस-स्थावर योनियों में असंख्य वर्षों तक परिभ्रमण	१४. स्थावर ब्राह्मण
१५. स्थावर ब्राह्मण	१५. ब्रह्मकल्प का देव
१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१६. विश्वभूति
१७. विश्वनन्दि	१७. महाशुक्र का देव
१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	१८. त्रिपृष्ठनारायण
१९. त्रिपुष्ठनारायण	१९. सातवां नरक
२०. सातवें नरक का नारकी	२०. सिंह
२१. सिंह	२१. चतुर्थ नरक
२२. प्रथम नरक का नारकी	२२. प्रियमित्र चक्रवर्ती
२३. सिंह	२३. महाशुक्र कल्प का देव
२४. प्रथम स्वर्ग का देव	२४. नन्दन
२५. कनकोज्ज्वल राजा	२५. प्राणत देवलोक में देव
२६. लांतक स्वर्ग का देव	२६. देवानंदा के गर्भ में
२७. हरिषेण राजा	२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती	
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव	
३१. नंदराजा	
३२. अच्युत स्वर्ग का देव और	
३३. भगवान् महावीर	

दोनों परम्पराओं ने चूंकि महावीर के प्रमुख भवों का ही उल्लेख किया है अत: यह कोई मतभेद का विषय नहीं है। इन भवों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जीव कभी धर्म धारण करने पर सौधर्म स्वर्ग के सुखों को भोगता है तो कभी कुमार्गगामी होकर सप्तम नरक के भी दारुण दुःखों को भोगता है। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से महावीर का जीव संसरण करता हुआ अपनी सिंह पर्याय में अजितंजय

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि से सम्बोधन पाता है और सम्बोधन पाने के बाद उसके अन्तःकरण से क्रूरता का विषाक्त-भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नयसार के भव में मुनि को आहारदान और उनके पवित्र उपदेश से उसके जीवन में परिवर्तन आता है। कहा जाता है कि महावीर के जीवन में यहीं से प्रबल परिवर्तन प्रारम्भ होता है और यहीं वह रौद्ररस के स्थान पर शान्तरस को ग्रहण कर लेता है। पुन: वह साधना से भटक भी जाता है। किन्तु अन्त में पुन: प्रबुद्ध होकर अपना चरम विकास कर लेता है।

पूर्वभव की परम्परा पर आज की प्रगतिशील पीढ़ी को भले ही विश्वास न हो पर यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं कि हमारी जन्म-परम्परा हमारी कर्म-परम्परा पर आधारित है। महावीर की पूर्वभव-परम्परा भी उनके भावों और कर्मों के अनुसार निश्चित हुई है। इस निश्चितीकरण में जैनधर्म सर्वज्ञ तीर्थङ्कर के सर्वतोमुखी ज्ञान को आधार स्वरूप मानता है। महावीर ने तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति तक अनन्त भव धारण किये होंगे पर उन भवों में से प्रमुख भवों का ही उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में किया गया है।

माता-पिता

छठी शताब्दी ई०पू० में वैशाली वज्जी गणतन्त्र की राजधानी थी। उसके शासक ज्ञातृकुलीय लिच्छवि क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ थे। राजा सिद्धार्थ के अपर नाम श्रेयांस और यशस्वी भी मिलते हैं। वे इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। पञ्ञापनासुत्त और ठाणांगसुत्त के अनुसार यह इक्ष्वाकुवंशी आर्यों के छ: कुलों के अन्तर्गत निर्दिष्ट है— उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञातृ (लिच्छवि और वैशालिक) एवं कौरव। ज्ञातृकुल के आधार पर ही पालि-प्राकृत साहित्य में महावीर को 'निगण्ठ नातपुत्त' कहा गया है।

राजा सिद्धार्थ का पाणिग्रहण वैशाली के लिच्छवि प्रधान राजा चेटक की पुत्री (दिगम्बर परम्परानुसार) अथवा बहिन (श्वेताम्बर परम्परानुसार) वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला प्रियकारिणी के साथ हुआ था। त्रिशला को विदेहदिन्ना अथवा विदेहदत्ता भी कहा गया है। दोनों का दाम्पत्य जीवन अन्यन्त सुखद एवं आध्यात्मिक था। लक्ष्मी और सौन्दर्य के साथ सरस्वती का सुन्दर समागम था।

गर्भापहरण

वैशाली के ब्राह्मण कुण्डग्राम में ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा रहती थी। उसने स्वप्न में देखा कि उसके गर्भ में कोई महान् व्यक्तित्व—तीर्थङ्कर आया हुआ है। इन्द्र ने यह बात अवधिज्ञान से जान ली और चूंकि तीर्थङ्कर का जन्म क्षत्रियकुल में ही होता है इसलिए उसने हरिणेगमेषी नामक देव को उस गर्भ का अपहरण करके उसे क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में नियोजित करने की आज्ञा दे दी। प्रथम ८२ दिन

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक महावीर देवानन्दा के गर्भ में रहे बाद में त्रिशला के गर्भ में पहुँच गये। महावीर ने मरीचि भव में नीच गोत्र कर्म का बन्ध किया था। इसीलिए उन्हें ब्राह्मणी के गर्भ में कुछ समय तक रहना पड़ा।[१] इस घटना का उल्लेख ठाणांग (सूत्र ७७०), समवायांग (सूत्र ८३), आचारांग (२.१५), भगवतीसूत्र (शतक ५, उद्देश ४), आदि श्वेताम्बरीय आगम साहित्य में उपलब्ध होता है। मथुरा में प्राप्त एक प्लेट क्रमांक १८ पर भी डॉ० बुहलर ने भगवानेमेसो पढ़ा है जो भगवान् महावीर के गर्भ परिवर्तन का सूचक है।[२] यह चित्रण आगम परम्पराश्रित रहा है। परन्तु दिगम्बर परम्परा इस प्रकार के गर्भापहरण की बात स्वीकार नहीं करती। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी दोसी और पं० दलसुख मालवणिया आदि श्वेताम्बर विद्वान् भी प्रस्तुत घटना पर विश्वास नहीं करते।[३]

पावन धरा पर : ई०पू० ५९९ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के समय नन्द्यावर्त राजप्रासाद में रात्रि के अन्तिम प्रहर में त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के पूर्व त्रिशलादेवी को चौदह (श्वेताम्बर परम्परानुसार) स्वप्न, सोलह (दिगम्बर परम्परानुसार) दिखाई दिये थे जिनका जैन साहित्य में विविध प्रकार से विश्लेषण किया गया है। ये स्वप्न पुत्र के प्रभावक व्यक्तित्व के दिग्दर्शन माने जाते हैं। माता-पिता और परिजनों ने बालक का नाम वर्द्धमान रखा। इस नामकरण के पुनीत अवसर पर राज्य-स्तर पर विभिन्न उत्सव हुए। वैशाली का प्रत्येक घर दीपक की चमकती हुई ज्योति से जगमगा उठा, मानो अज्ञानान्धकार को दूर हटाने के लिए तेजस्वी सूर्य का उदय हुआ हो। जैनशास्त्रों में इन शुभ अवसरों का नामकरण गर्भ कल्याणक एवं जन्म कल्याणक के रूप में हुआ है।

बाल्यावस्था : बालक वर्द्धमान का लालन-पालन राजशाही ठाठ-बाट से हुआ। पञ्चधात्रियों की देखरेख में उसका शारीरिक और मानसिक विकास अहर्निश वृद्धिगत होने लगा। उसकी बालक्रीड़ायें भी हृदयहारी और सौम्य थीं। वह निर्भय और साहसी था।

एक बार बालक वर्द्धमान अपने समवयस्क मित्रों के साथ संकुली (आमली) खेल-खेल रहा था। मित्रों में काकधर, चलधर और पक्षधर नामक राजकुमारों का उल्लेख आता है। इस खेल में जो बालक सर्वप्रथम वृक्ष पर चढ़ जाता है और नीचे उतर आता, वह पराजित बालकों के कन्धों पर बैठकर उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है। उस समय बालक वर्द्धमान खेल खेल रहा था कि अचानक एक विकराल भीमकाय सर्प वृक्ष पर आ गया। सभी बालक तो भयभीत होकर भाग खड़े हुए पर वर्धमान ने उसकी पूँछ पकड़कर उसे बहुत दूर फेंक दिया। इसे 'आमलय खेडं' कहा गया है। यह घटना राजा के कानों तक पहुंची। बालक की निर्भयता और वीरता का यह एक विशिष्ट प्रमाण था इसलिये राजा ने वर्धमान का अपर नाम 'महावीर' रख दिया। महावीर के अतिरिक्त वर्द्धमान के सन्मति, वीर और अतिवीर नाम भी मिलते हैं। इन नामों के पीछे

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी इसी प्रकार की कुछ घटनायें सम्बद्ध हैं। बालक के इन नामों में वर्द्धमान और महावीर नाम अधिक प्रचलित हुए।

उक्त घटना के पीछे संगमदेव की भूमिका बतायी जाती है। उसने महावीर वर्द्धमान को साधनाकाल में भी अनेक प्रकार के कठोर कष्ट दिये। आमली क्रीड़ा का वर्णन मथुरा शिल्प में उपलब्ध हुआ है। महावीर की बाल-लीलाओं का और कोई महत्त्वपूर्ण प्राचीन उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया।

शिक्षा-दीक्षा

महावीर ने अपनी मेधावी प्रतिभा के बल पर बहुत शीघ्र ही ज्ञानार्जन कर लिया। जैन परम्परा के अनुसार वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी थे। अत: किसी आचार्य के पास उनकी शिक्षा-दीक्षा मात्र व्यावहारिक थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार संजयन्त और विजयन्त नामक मुनियों ने तो उनके दर्शन करके ही अपनी शंकायें दूर कर लीं। जो भी हो, यह निश्चित था कि महावीर किशोरावस्था में ही अपूर्व प्रतिभा के धनी, विद्वान् और चिन्तक हो गये थे। यह आश्चर्य का विषय है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में विद्याशाला में गमन तथा इन्द्र के साथ प्रश्नचर्या को छोड़कर कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलते।

गार्हस्थिक जीवन

राजकुमार वर्द्धमान गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भोग-वासनाओं से अलिप्त थे। संसार की गहनता और असारता का अनुभव उन्हें हो चुका था। आध्यात्मिक चिन्तनशीलता अहर्निश बढ़ती चली जा रही थी। इसी अवस्था में उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा गया। स्वभावत: वे इसे कैसे स्वीकारते? माता-पिता का स्नेह-आग्रह और भेद-विज्ञान की प्रकर्षता इन दोनों स्थितियों में सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय— यह विकट समस्या महावीर के सामने थी।

इस सन्दर्भ में दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने अन्त में अविवाहित रहने का निर्णय लिया। पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस परिस्थिति में उन्होंने विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फलत: वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय पुत्री यशोदा के साथ शुभ मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण संस्कार हो गया। कालान्तर में वे एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका विवाह सम्बन्ध जामालि के साथ हुआ था। यह जामालि साधना-काल में कुछ समय तक महावीर का शिष्य भी रहा।[४]

वस्तुत: महावीर जैसे वीतरागी और निःस्पृही व्यक्तित्व के लिए विवाह करना अथवा नहीं करना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। विवाह किया भी होगा तो वे

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन से अविवाहित रहे होंगे। भौतिक साधनों के रहते हुए भी निर्भोगी बन जाने में कहीं अधिक वैशिष्ट्य है। हम यों भी कह सकते हैं कि महावीर भोगों में रहते हुए भी निर्भोगी रहे, विवाहित रहते हुए भी अविवाहित रहे और घर में रहते हुए भी बेघर रहे। वीतरागता का सही परिचय ऐसी अवस्थाओं में ही मिल पाता है।

महाभिनिष्क्रमण : अन्तर्ज्ञान की खोज में

लगभग तीस वर्ष की अवस्था तक भगवान् महावीर गृहस्थावस्था में ही रहकर आत्मचिन्तन करते रहे। महावीर जब २८ वर्ष के थे तभी माता-पिता के स्वर्गवास ने उन्हें और भी आत्मोन्मुखी बना दिया। भेदविज्ञान जागरित होते ही उन्हें संसार की ऐश्वर्यमयी सम्पदा तृणवत् प्रतीत होने लगी। पदार्थ की विनश्वरशीलता का दर्शन उन्हें स्पष्टतर होता गया। वैराग्य की भावना और दृढ़तर हो गई। फलत: उन्होंने मार्गशीर्षकृष्णा दशमी तिथि को चतुर्थ प्रहर में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के योग में आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली।[५] इस अवसर पर सभी गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। सभी के समक्ष महावीर ने पंचमुष्टि केशलुञ्चन किया जो संसार की समस्त वासनाओं से विमुक्त हो जाने के उपक्रम का प्रतीक है।

इस सन्दर्भ में दो परम्परायें उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने प्रारम्भ से ही दिगम्बर वेष धारण किया पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दीक्षा ग्रहण करते ही शक्रेन्द्र ने उन्हें देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया। वह वस्त्र उनके स्कन्ध पर रहा। कुछ ग्रन्थकार दरिद्र ब्राह्मण की याचना पर उसका आधा भाग प्रदान करने का उल्लेख करते हैं और कुछ ग्रन्थकार नहीं। और वह वस्त्र तेरह माह तक उनके पास रहा फिर वह नीचे गिर गया।

जैनेतर साहित्य में महावीर के इस महाभिनिष्क्रमण को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। पर कुछ समय बाद साधना में जिस प्रकार की सघनता और निर्मलता आती गई, वह विश्रुततर और समाज के आकर्षण का केन्द्र बनती गई। पालि साहित्य में उनकी इसी अवस्था का वर्णन मिलता है। वहाँ उन्हें 'निगण्ठनातपुत्तो' कहकर अनेक बार स्मरण किया गया है। यहाँ 'निगण्ठ' शब्द अचेलक और निष्परिग्रही होने का प्रतीक है।

छद्मस्थ साधना और विशिष्ट घटनायें

१. साधनाकाल में महावीर अपना परिचय 'भिक्खु' के रूप में देते रहे।[६] उनके लिए 'मुणि' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[७] ये दोनों शब्द महावीर की साधना के दिग्दर्शक हैं। गृह त्याग करने के उपरान्त साधक महावीर केवलज्ञान की प्राप्ति के निमित्त लगभग बारह वर्ष तक सतत साधना करते रहे। इसी काल को छद्मस्थ कहा गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छद्मस्थकाल तथा वर्षावास

ठाणाङ्गसूत्र में महापद्मचरित्र के प्रसंग में महावीर के विषय में लिखा है कि उन्होंने तीस वर्ष गृहस्थावस्था में, बारह वर्ष तेरह पक्ष केवलज्ञान प्राप्ति में और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म प्रचार में बिताये।[८] तदनुसार महावीर ने महाभिनिष्क्रमण से लेकर केवलज्ञान प्राप्ति तक छद्मस्थावस्था में जिन स्थलों में बिहार और वर्षावास किया, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. कुण्डग्राम, कर्मारग्राम (कम्मन-छपरा), कोल्लाग सन्निवेश, मोराक सन्निवेश, ज्ञातखण्डवन, दुइज्जंतग, अस्थिक ग्राम (वर्षावास)।

२. मोराक सन्निवेश, दक्षिण-उत्तर वाचाला, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।

३. कोल्लाग, सुवर्णखिल, ब्राह्मणग्राम, चम्पा (वर्षावास)।

४. कालाप, पन्त, कुमाराक, चोराक, पृष्ठ चम्पा (वर्षावास)

५. कयंगला, हल्लिदुय, आवर्त, कलंकबुका, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नंगला, लाढ़ (लाट) देश, मलय, भद्दिल (वर्षावास) (वैशाली के पास)।

६. कदली, तंबाय, कूबिय, वैशाली, जम्बूसंड, कुपिय, ग्रामाक, भद्दिया (वर्षावास)।

७. मगध, अलभिया (वर्षावास)।

८. कुण्डाक, बहुसालग, लोहार्गला, गोभूमि, मर्दन, शालवन, पुरिमताल, उन्नाग, राजगृह (वर्षावास)।

९. लाढ़-वज्रभूमि, सुब्रम्हभूमि (वर्षावास यहाँ के वृक्षों और खण्डहरों में हुआ।)।

१०. कूर्मारग्राम, सिद्धार्थपुर, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती (वर्षावास)।

११. सानुलट्ठिय, दृढ़भूमि, मोसलि, सिद्धार्थपुर, वज्रगांव, आलंभिया, श्वेताम्बिका, वाराणसी, मिथिला, मलय, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली (वर्षावास)।

१२. सुन्सुमारपुर, नन्दिग्राम, कौशाम्बी, मेढ़ियाग्राम, सुमंगल, सुछेत्ता, पालक, चम्पा (वर्षावास)।

१३. जम्भिय, मेढिय, छम्माणि, मध्यमपावा, जंभियग्राम।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट घटनाएँ

गोपालक का उपसर्ग

१. महाभिनिष्क्रमण कर साधक महावीर कूर्माग्राम पहुँचे और उसके बाहर जंगल में एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर आत्मसाधना करने लगे। साधना में इतने लीन हो गये कि दृष्टिपथ में आयी वस्तु का भी संस्कार उनके चित्र को प्रभावित नहीं कर सका।

उसी समय एक घटना हुई। गाँव के किसी ग्वाले (गोपालक) ने अपने बैल चरने के लिए वहीं छोड़ दिये और स्वयं कहीं निकल गया। वापिस आने पर उसे बैल वहाँ नहीं दिखाई दिये। बैल तो चरते-चरते कुछ दूर निकल गये थे। ग्वाले ने ध्यानस्थ महावीर से पूछा— "हमारे बैल कहाँ हैं?" उत्तर न पाकर वह स्वयं उन्हें खोजने चल पड़ा। दैवयोग से वे बैल प्रातःकाल वापिस आकर महावीर के पास ही बैठ गये। इतने में ग्वाला आया और वहाँ अपने बैल पाकर महावीर के प्रति क्रुद्ध हो गया। उन्हें चोर समझकर वह मारने दौड़ा। अकस्मात् कोई भद्र पुरुष सामने से आ रहा था। उसने उस ग्वाले को रोका और कहा— "इस निष्परिग्रही व्यक्ति को तुम्हारे बैलों से क्या प्रयोजन? यह तो आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने के लिए साधना में लीन है।'

इस भद्र पुरुष का उल्लेख साहित्य में शक्रेन्द्र के रूप में किया गया है। उसने महावीर से कहा यदि आप चाहें तो मैं आपको अपनी सेवायें देने के लिए सहर्ष तैयार हूँ। महावीर ने उत्तर दिया— व्यक्ति दूसरों के बल पर केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता। उसे अपने ही बल पर उसे प्राप्त करना पड़ता है—

नापेक्षं चक्रिरेऽर्हन्तः परसाहायिकं क्वचित् ।

केवल केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।।

स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ।[९]

यह उत्तर सुनकर वह मनुष्यरूपी इन्द्र बड़ा प्रभावित हुआ। महावीर के न चाहते हुए भी त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के अनुसार उसने अपने सिद्धार्थ नामक एक सहायक को उनके संरक्षण के लिए नियुक्त कर दिया। इस सिद्धार्थ को वहाँ एक व्यन्तर देव कहा है।[१०]

आचाराङ्ग और कल्पसूत्र में इसके बाद की गई उनकी तपस्या का विस्तृत वर्णन मिलता है। महावीर अचेलक अवस्था में थे इसलिए उन्हें शीत, उष्ण, दंशमशक आदि की बाधायें होना स्वाभाविक थीं। भोगवासना से पीड़ित महिलाओं का भी उनकी ओर आकर्षित होना सहज ही था। निर्मोही महावीर इन सभी प्रकार की बाधाओं को निर्द्वेष

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव से सहते हुए विचरण करते रहे।

कतिपय प्रतिज्ञायें : कठोर तपस्या का अभिरूप

मोराक सन्निवेशवर्ती 'दूईज्जन्तक' नामक पाषण्डस्थ आश्रम का कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था। कुलपति की अभ्यर्थना पर महावीर ने अपना वर्षावास वहीं करने का निश्चय किया। महावीर की कठोर निःस्पृही साधना देखकर आश्रमवासी दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त वर्षा न होने के कारण वनस्पति, घास आदि पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं हुई। फलतः गायें आकर पर्णकुटी की घास खाने लगीं। आश्रमवासी उन्हें हटाकर अपनी पर्णकुटियों की रक्षा करने लगे। पर निष्परिग्रही महावीर ने कभी ऐसा नहीं किया। वे तो अपने ध्यान में दत्तचित्त रहे। आश्रमवासियों ने इसकी शिकायत कुलपति से की। कुलपति ने महावीर से कहा कि कम से कम आपको अपनी पर्णकुटी की रक्षा तो करनी चाहिए। महावीर कुलपति के आग्रह से सहमत नहीं हो सके और उन्होंने यह निश्चय इसलिए किया कि वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते थे। वे तो पूर्ण समभावी थे। प्रस्थान करने के पूर्व साधक महावीर ने निम्नलिखित पाँच प्रतिज्ञायें कीं।[११]

१. अप्रीतिकारक स्थान में वास नहीं करूँगा।

२. सदैव ध्यानस्थ रहूँगा।

३. मौनव्रती रहूँगा।

४. पाणितल में भोजन ग्रहण करूँगा और

५. गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा।

मोराकसन्निवेश से विहार कर महावीर अस्थिग्राम पहुँचे और वहीं वे अनुमति लेकर शूलपाणि यक्ष के आयतन में ठहर गये। कहा गया है, एक बलशाली बैल, जिसकी सेवा-सुश्रुषा की ओर ग्रामवासियों ने उपेक्षा दिखाई, मर कर यक्ष हो गया था और वही उन सब को सताता था। उसी के सम्मान में ग्रामवासियों ने यह मन्दिर बनवाया था। विकट स्थिति देखकर लोगों ने महावीर को वहाँ ठहरने के लिए मना किया, फिर भी वे उसी मन्दिर में ध्यानस्थ हो गये। नियमानुसार रात्रि में यक्ष आया और उसने महावीर को विविध प्रकार के तीव्र कष्ट दिये। परन्तु वे साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। इस घटना से यक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त में उसने भगवान् से क्षमा मांगी और पश्चात्ताप करने लगा। फलतः महावीर ने उसे प्रतिबोध दिया— "तू आत्मा को पहचान। आत्मवत् मानकर किसी को कष्ट न दे। इन पापों का फल बड़ा दुःखदायी होता है।" यक्ष ने भगवान् की आज्ञा सहर्ष स्वीकार की और नतमस्तक होकर वहाँ से चला गया।[१२]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश स्वप्न : भविष्यबोध

उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि शेष थी। महावीर ध्यानस्थ खड़े थे। फिर भी क्षणभर के लिए उन्हें निद्रा आ गई। इस बीच उन्होंने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे—

१. ताल-पिशाच को स्वयं अपने हाथ से गिराना।

२. श्वेत पुंस्कोकिल की सेवा में उपस्थित होना।

३. विचित्र वर्णवाला पुंस्कोकिल सामने दिखाई देना।

४. सुगन्धित दो पुष्पमालायें दिखाई देना।

५. श्वेत गो-समुदाय का दिखाई देना।

६. विकसित पद्म सरोवर का दर्शन।

७. स्वयं को महासमुद्र पार करते देखना।

८. दिनकर किरणों को फैलते हुए देखना।

९. अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्ठित करते हुए देखना, और

१०. स्वयं को मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखना।

अस्थिग्राम में ही एक उत्पल नामक निमित्तज्ञानी था जो पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुयायी था। यक्षायतन में महावीर के ठहरने का समाचार सुनकर वह अपने आशंकाओं की सम्भावना से चिन्तित हो उठा। प्रातःकाल होते ही वह इन्द्रशर्मा नामक पुजारी के साथ भगवान् महावीर के दर्शन करने आया। साथ ही बड़ा भारी जनसमुदाय भी था। महावीर को सकुशल पाकर सभी को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। निमित्तज्ञ उत्पल ने महावीर के स्वप्नों का फल क्रमशः इस प्रकार बताया—

१. आप मोहनीय कर्म का विनाश करेंगे।

२. आपको शुक्लध्यान की प्राप्ति होगी।

३. आप विविध ज्ञानरूप द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।

४. चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं समझ सका।

५. चतुर्विध संघ की आप स्थापना करेंगे।

६. चारों प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे।

७. आप संसार सागर को पार करेंगे।

८. आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. आपकी कीर्ति त्रिलोक में व्याप्त होगी, और

१०. सिंहासनारूढ़ होकर आप लोग में धर्मोपदेश करेंगे।

जिस चतुर्थ स्वप्न का उत्तर निमित्तज्ञ उत्पल नहीं जान सका। उसका फल महावीर ने स्वयं बताया है कि मैं दो प्रकार के धर्म का कथन करूँगा— श्रावकधर्म और मुनिधर्म। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्म को सुव्यवस्थित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य महावीर की दृष्टि में था।

निमित्तज्ञान : प्रभावात्मकता

२. साधक महावीर अस्थिग्राम में प्रथम वर्षावास समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को मोराक सन्निवेश पहुँचे। वहाँ के नगर के बाहर के उद्यान में ठहरे। नगर में एक अच्छन्दक नामक पाखण्डी ज्योतिषी रहता था। उसकी आजीविका का साधन ज्योतिष ही था। उस समय निमित्तज्ञानी का बहुत आदर-सम्मान होता था। अच्छन्दक को जो प्रतिष्ठा मिली उसकी आड़ में उसने अनेक दुष्पाप करना प्रारम्भ कर दिये। महावीर के आध्यात्मिक तेज से सारी जनता इतनी अधिक प्रभावित हो गई कि अच्छन्दक के पाप भी शनैः-शनैः प्रगट हो गये। अब अच्छन्दक की आजीविका का साधन तिरोहित होने लगा। तब असहाय होकर वह महावीर के पास आया और कहने लगा— "यहाँ आपके उपस्थित रहने से मेरी आजीविका समाप्त-प्राय हो रही है। आप तो निःस्पृही हैं। यदि आप यहाँ से चले जावें तो मेरा कल्याण हो जावेगा।[१३] अतः दयालु महावीर ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अन्यत्र ध्यानस्थ हो गये।

चण्डशिक सर्प : एक दिशाबोध

मोराक सन्निवेश से महावीर सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के किनारे बसी वाचाला के उत्तरभाग की ओर चल पड़े। बीच में कनकखल आश्रम मिला। वहाँ ग्वालों ने महावीर को आगे बढ़ने से रोका और कहा कि आगे वन में चण्डकौशिक नाम दृष्टिविष भयंकर सर्प रहता है। वह किसी को भी देखते ही विष-वमन करने लगता है। उसके विष वमन करने के कारण वन-वृक्ष भी सूखने लग गये हैं। महावीर ने ग्वालों की बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया और वे आगे बढ़ते गये। उन्होंने सोचा कि इस चण्डकौशिक की अशुभ वृत्तियों को शुभ वृत्तियों की ओर मोड़ा जाना चाहिए।

कहा जाता है, चण्डकौशिक अपने पूर्वजन्म में कठोर तपस्वी था। उसके पैर के नीचे एक बार एक मेंढकी दबकर मर गई जिसकी उसने प्रतिक्रमण करते समय आलोचना नहीं की। शिष्य द्वारा स्मरण कराये जाने पर वह क्रोधित होकर उसे मारने दौड़ा। पर बीच में ही एक स्तम्भ से शिर टकरा जाने पर वह तत्काल चल बसा और कनकखल आश्रम के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से उसने जन्म लिया। बालक का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम कौशिक रखा गया। पर अत्यधिक चण्ड प्रकृति होने के कारण उसका नाम चण्डकौशिक पड़ गया। चण्डकौशिक अपने आश्रम की रक्षा का ध्यान अधिक रखता था। एक बार समीपवर्ती सेयंबिया नगरी के राजकुमारों ने आश्रम वन को उजाड़ दिया। चण्डकौशिक उन्हें मारने के लिए परशु लेकर दौड़ा। पर बीच में ही वह गड्ढे में गिरकर मर गया और दृष्टिविष नामक विकराल सर्प हुआ।

महामना महावीर को ध्यानस्थ देखकर चण्डकौशिक सर्प को बड़ा विस्मय हुआ। वह क्रुद्ध होकर फूत्कार करने लगा। फिर भी महावीर को अविचल देखकर उनके पैर में तीव्र दृंष्ट्राघात कर दिया। फलस्वरूप उनके पैर से रक्त के स्थान पर दुग्धधारा प्रवाहित होने लगी। चण्डकौशिक यह देखकर स्तब्ध रह गया। इस बीच महावीर का ध्यान समाप्त हो गया और उन्होंने चण्डकौशिक को उद्बोधन दिया— "उपसम भो चण्डकोसिया! हे चण्डकौशिक! शान्त हो जाओ। तुम अपने ही पापों के कारण संसार में भटक रहे हो। अब विकार भावों को छोड़ो और अपना भविष्य सम्भालो।"

साधक महावीर की मर्मस्पर्शिनी वाणी को सुनकर चण्डकौशिक को जातिस्मरण हो आया। उनके निश्छल, शान्त और सौम्य भाव को उसने परखा और प्रतिज्ञा की कि मरण पर्यन्त वह न तो अब किसी को सतायेगा और न ही भोजन ग्रहण करेगा।

चण्डकौशिक को शान्त और निश्चल तथा महावीर को सकुशल देखकर ग्रामवासियों ने आश्चर्य व्यक्त किया। वे महावीर के प्रशंसक बन गये। इधर चण्डकौशिक को निश्चल और शान्त समझकर लोगों ने उसे पत्थर मारे और असह्य पीड़ा दी। पर चण्डकौशिक उस पीड़ा को समभाव से सहन करता रहा और शुभ भावों पूर्वक उसने अपना देह त्याग दिया।[१४]

मक्खलि गोशालक से भेंट : एक नया अध्याय

साधक महावीर एक बार तन्तुवायशाला में ठहरे हुए थे। मंखलिपुत्र गोशालक भी वहीं रुका हुआ था। एक बार गोशालक के पूछने पर महावीर ने बता दिया कि तुम्हें आज भिक्षा में कोदों का वासा चावल (भात), खट्टी छाछ और खोटा रुपया मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर भी गोशालक को भिक्षा में यही सब कुछ मिला। इस घटना से वह नियतिवादी बन गया।[१५]

इधर महावीर पारणा लेकर नालन्दा से कोल्लाग सन्निवेश पहुँचे। वहाँ बहुल नामक ब्राह्मण के घर आहार लिया। गोशालक भी महावीर को खोजते-खोजते कोल्लाग पहुँच गया और वहाँ उसने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।[१६]

इसके पश्चात् छह वर्ष तक गोशालक अविरल रूप से महावीर के साथ रहा। इस बीच अनेक ऐसी घटनायें हुई जिनसे गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर दृढ़तर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता गया और अन्ततः वह घोर नियतिवादी हो गया।

३. कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर महावीर सुवर्णखल पहुँचे। मार्ग में कुछ ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने कहा— 'रुकिये, हम लोग खीर खाकर चलेंगे।' महावीर ने कहा— 'यह खीर पक नहीं पायेगी। उसके पकने के पूर्व ही हांडी फूट जायेगी।' महावीर की यह सूक्ष्मान्वेक्षण शक्ति का प्रदर्शन था। अनुमान सही निकला। गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर और बढ़ा गया।

४. महावीर के साथ रहते हुए भी गोशालक की वृत्तियाँ शान्त नहीं हुई थीं। वह क्रोधी और रागी प्रकृति का था। इसलिए उसे अनेक स्थानों पर अपमान सहन करना पड़ा। कभी वह महिलाओं से छेड़-छाड़ करता तो कभी परमतावलम्बी तथा पार्श्व परम्परानुयायी साधुओं और श्रावकों से झगड़ पड़ता। इसलिए जनसमुदाय के रोष का वह शिकार हो जाता।

पार्श्वस्थ साधुओं से भेंट : पुरातन परम्परा का एकीकरण

कूर्मारक सन्निवेश में पार्श्वनाथ परम्परा के सन्तानीय साधुओं से गोशालक की भेंट हुई। महावीर तो उद्यान में ही ध्यानस्थ रहे पर गोशालक गाँव में भिक्षार्थ गया। वहाँ विचित्र वस्त्र पहने पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं से गोशालक की भेंट हुई और उनसे विवाद होने पर गोशालक ने उपाश्रय जल जाने का अभिशाप भी दिया।[१७]

महावीर से भी उनकी भेंट हुई और वे बड़े प्रसन्न हुए। सन्तानीय साधुओं के प्रधान आचार्य मुनिचन्द्र ने तो उसी समय अपने मुख्य शिष्य को कार्यभार सौंपकर स्वयं जिनकल्प दीक्षा धारण कर ली। साधनाकाल में ही एक आरक्षक पुत्र ने उन्हें तस्कर समझकर उनका अन्त कर दिया। शुभ वृत्तियों के कारण उन्होंने उसी जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लिया।[१८]

अग्नि-उपसर्ग : कठोर साधना

५. हल्लिदुय में साधक महावीर एक हल्लिदृग नामक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। उसी वृक्ष के नीचे कुछ और भी व्यक्ति ठहरे हुए थे। वे रात्रि में आग जलाकर शीत से बचते रहे और प्रातःकाल उसे बिना बुझाये ही वहाँ से चल पड़े। संयोग से वह आग फैल गई और उसकी लपटों में महावीर के पैर झुलस गये। फिर भी वे विचलित नहीं हुए।[१९]

अनार्य देशों में भ्रमण : समभावशीलता

इसके बाद साधक महावीर के मन में यह विचार आया कि बिहार भूमि तो उनसे परिचित है। ऐसे स्थान पर क्यों न जाया जाय जहाँ कि उनका कोई परिचित ही न

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो। ऐसे अपरिचित स्थानों पर ही साधना-ज्योति में चमक आ सकती है और कर्मों की निर्जरा हो सकती है। यह सोचकर महावीर ने लाढ देश में जाने का निश्चय किया। यह देश उस समय असंस्कृत और असभ्य था। इसलिए साधारणत: वहाँ मुनियों का विहार नहीं होता था। इस दृष्टि से महावीर का यहाँ विहार विशेष महत्त्वपूर्ण था।

महावीर लाढ देश पहुँचे परन्तु वहाँ उन्हें अनुकूल भोजन और आवास भी नहीं मिल सका। वहाँ के लोग उन पर कुत्ते छोड़ देते, लाठियाँ मारते और उन्हें घसीटते। इन सभी उपसर्गों को महावीर का समभावशील व्यक्तित्व सहर्ष सहन करता रहा। उन्हें न आहार का लोभ था, न शरीर से मोह और न किसी प्रकार की विषय-वासना की इच्छा। इसलिए वीतरागी होकर सभी प्रकार के उपसर्ग सहन करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई।[२०]

गोशालक से पार्थक्य : आवश्यकता की अनुभूति

अनार्य देशों से लौटकर भ्रमण करते हुए साधक महावीर ने वैशाली की ओर विहार किया। मार्ग में ही गोशालक ने उनसे कहा— "मुझे आपके कारण बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं। अत: अधिक अच्छा यही है कि मैं आपसे पृथक् बना रहूँ।" महावीर ने उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। पार्थक्य हो जाने पर महावीर वैशाली की ओर चल पड़े और गोशालक राजगृह जा पहुँचा।

कठपूतना का उपसर्ग : क्षमाशीलता

६. वैशाली से महावीर ग्रामक सन्निवेश पहुँचे। उस समय माघी शीत अपने प्रखर रूप में थी। लोग घर से बाहर नहीं निकल पाते थे। पर महावीर के तेजस्वी शरीर पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वे तो निर्वस्त्रावस्था में ही उन्मुक्त आकाश के नीचे ही ध्यानस्थ हो गये। इस बीच में कटपूतना नामक एक व्यन्तरी ने उन पर घनघोर उपसर्ग किये। उसके द्वारा छोड़े गये शीतल जल और हिला देने वाली आँधी की कठोर यातना को महावीर ने क्षमाभावपूर्वक सहन किया। उनके मन में तनिक भी विकारभाव नहीं आया। फलस्वरूप उन्हें परमावधिज्ञान प्राप्त हो गया। कटपूतना भी थककर शरणागत हो गई।

७. इसी प्रकार बहुशालादि गाँवों में शालार्य ने भी साधक महावीर पर तीव्र कष्टकारी उपसर्ग किये किन्तु महावीर उन सभी को अहिंसक साधना के बल पर सहन करते रहे।

लोहार्गला उपसर्ग

८. लोहार्गला में परिचय प्राप्त किये बिना प्रवेश नहीं दिया जाता था। महावीर से पूछे जाने पर कोई उत्तर नहीं मिला। फलत: उन्हें राजा जितशत्रु के पास ले जाया

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। वहाँ उत्पल नामक निमित्तज्ञानी ने जितशत्रु को महावीर का परिचय दिया। परिचय प्राप्त कर जितशत्रु ने क्षमायाचना की।

अनार्य देशाटन : सहनशीलता का परिचय

९. साधक महावीर ने एक बार पुनः साधना की परीक्षा के निमित्त अनार्य देशों में भ्रमण करना चाहा। अतः राजगृह से बिहार कर लाढ देश की ओर गये। वहाँ अनुकूल आहार-विहार और आवास पाना सरल नहीं था। इसके पूर्व भी उन्होंने एक बार और अनार्य देशों का भ्रमण किया था। इसलिए कष्टों का उन्हें अनुभव था। अनार्यों द्वारा उन्हें मारा-पीटा जाना, दाँतों से काटना, कुत्तों का छोड़ना, पत्थर मारना, अपशब्द कहना, धूल फेंकना, शरीर का मांस निकाल लेना आदि प्रकार से विविध उपसर्ग किये गये। पर साधक महावीर उन्हें उसी प्रकार सहन करते हुए साधना-पथ पर बढ़ते रहे जिस प्रकार कवचादि से संवृत शूरवीर पुरुष योद्धा संग्राम के कठोर प्रहरों को सहता हुआ भी आगे बढ़ता चला जाता है।[२१]

गोशालक का पुनर्मिलन और पार्थक्य

१०. अनार्य देशों से वापिस आकर महावीर ने कूर्मग्राम की ओर प्रयाण किया। गोशालक यहाँ पुनः उनके साथ हो गया। मार्ग में एक वैश्यायन नामक तापस अपने जटाजूटों से गिरते हुए यूकाओं को रख रहा था। गोशालक को कौतुहल हुआ। उसने जाकर तापस से प्रश्न-प्रतिप्रश्न किये जो उसके क्रोध का कारण सिद्ध हुए। फलतः उसने गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ दी। गोशालक दौड़ता-दौड़ता महावीर के पास आया। उन्होंने शीतलेश्या छोड़कर तेजोलेश्या शान्त कर दी और उसे बचा लिया। यह देखकर तापस को आश्चर्य हुआ और वह महावीर की शक्ति का प्रशंसक बन गया। गोशालक ने तेजोलेश्या की शक्ति देखकर महावीर से उसकी सिद्धि प्राप्त करने की रीति को समझा।

इसके बाद वे दोनों सिद्धार्थपुर की ओर गये। मार्ग में वही तिल का पौधा मिला जिसे गोशालक ने महावीर की वाणी को असत्य सिद्ध करने के लिए फेंक दिया था। गोशालक ने पौधे की फल्ली में सात बीज ही पाये। महावीर की वाणी सत्य सिद्ध हुई। यह देखकर गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर और अधिक दृढ़ हो गया और उसने महावीर से पृथक् होकर अपने स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना कर ली।

तप्त धूलि उपसर्ग

वैशाली में उन्होंने उपद्रवी बालकों के उपसर्ग सहे। वहाँ से वे वणियगाम की ओर गये। मार्ग में गण्डकी नदी को नाव से उन्हें पार करना पड़ा। पर किराये का पैसा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न देने के कारण उन्हें अत्यन्त तप्त धूलि में खड़ा कर दिया गया। संयोगवश शंख राजा का भानेज उसी समय आ गया। उसने पहचानकर उन्हें मुक्त करा दिया।

संगम के प्राकृतिक-अप्राकृतिक उपसर्ग

साधक महावीर दृढ़भूमि के बाह्य उद्यानवर्ती पोलास नामक चैत्य में निश्चल होकर ध्यानस्थ हो गये। लगातार ध्यान करते रहने से विविध प्रकार के प्राकृतिक और अप्राकृतिक दुःसह उपसर्ग हुए। उनका समूचा शरीर धूल-धूसरित हो गया। उसे वज्रमुखी चींटियों, डांस-मच्छरों, दीमकों, नेवलों और सर्पों ने काटा। जब कभी हाथी और बाघों के भी उपसर्ग हुए। आसपास जलती हुई अग्नि को भी सहन किया। पक्षियों ने अपनी चंचुओं से उनके शरीर को विदीर्ण किया। तेज आंधी और तूफान आये। कामुक महिलाओं ने अपने हाव-भाव दिखाये। परन्तु महावीर अपने साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। इन उपसर्गों को शास्त्रों में संगमदेवकृत माना गया है।

कठोर अभिग्रह : चन्दना को नयी दिशा

१२. कौशाम्बी में महावीर ने पौषकृष्णा प्रतिपदा के दिन एक कठोर अभिग्रह किया— "मैं ऐसी राजकुमारी से ही भिक्षा ग्रहण करूँगा जिसका शिर मुड़ा हो, हाथ में हथकड़ी और पैर में बेड़ी हो, आँखों में आँसू हों, तीन दिन की उपवासी हो, जिसके उड़द के बाकले सूप के कोने में पड़े हों, भिक्षा-समय व्यतीत हो चुकने पर जो देहली के बीच खड़ी हो और दासीपने को प्राप्त हुई हो।"

साधक महावीर की यह भीषण प्रतिज्ञा बहुत समय तक पूरी नहीं हो सकी। उपासकों और भक्तों के बीच उनका यह अनाहार आश्चर्य, चिन्ता और चर्चा का विषय बन गया। प्रतिज्ञा के विषय में किसी को भी जानकारी नहीं थी। अभिग्रह को धारण किये हुए पाँच माह पच्चीस दिन व्यतीत हो चुके थे।

संयोगवश महावीर भिक्षा के लिए धनावह सेठ के घर पहुँचे। वहाँ राजकुमारी चन्दना तीन दिन की उपवासी, हथकड़ी और बेड़ी पहने हुए, सूप में उबाला कुल्माष लिए हुए किसी अतिथि की प्रतीक्षा में थी कि उसे तेजस्वी तपस्वी महावीर आते हुए दिखे। महावीर का अभिग्रह अभी पूरा नहीं हुआ था। इसलिए जैसे ही वे वापिस जाने लगे कि चन्दना की आँखों में आँसू आ गये। साधक महावीर की प्रतिज्ञा अब पूरी हो चुकी थी। उन्होंने चन्दना के हाथ से पारणा कर ली। चन्दना भक्त व्यक्तियों के कण्ठ का हार बन गई। यही चन्दना कालान्तर में भगवान् महावीर की प्रथम साध्वी हुई।

गोपालक उपसर्ग

१३. एक बार छम्माणि के बाह्य उद्यान में महावीर ध्यानस्थ थे। वहाँ सन्ध्याकाल में एक ग्वाला अपने बैल छोड़कर गाँव चला गया। लौटने पर उसे वहाँ बैल

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखाई नहीं दिये। महावीर से पूछने पर कोई उत्तर नहीं मिला। क्रुद्ध होकर उसने उनके दोनों कानों में काँस नामक घास की शलाकायें डाल दीं और उन्हें पत्थर से ऐसा ठोंक दिया कि वे परस्पर में भीतर मिल गईं। बाहर के शेष भाग को उसने तोड़ दिया ताकि कोई उन्हें देख न सके। महावीर ने इस असह्य वेदना को भी शान्तिपूर्वक सह लिया।[२२]

कर्णशलाका निष्कासन उपसर्ग

छम्माणि से महावीर मध्यम पावा पहुँचे। वहाँ भिक्षा के लिए वे सिद्धार्थ नामक वणिक के घर गये। सिद्धार्थ उस समय अपने मित्र 'खरक' नामक वैद्य से बात कर रहा था। उन दोनों ने महावीर को देखते ही उनकी वेदना का आभास कर लिया। इधर महावीर उद्यान में आकर ध्यानस्थ हो गये। सिद्धार्थ और खरक औषधियों के साथ महावीर को खोजते हुए उद्यान में पहुँचे। उन्होंने उनकी तेल मालिश की और फिर संड़ासी से दोनों कानों की शलाकायें बाहर निकाल दीं। रुधिरयुक्त शलाकाओं के निकलाने की तीव्र वेदना से महावीर के मुँह से एक तीखी चीख निकली। वैद्य खरक ने घाव पर संदोहण औषधि लगा दी और वन्दना करके चला गया।

आश्चर्य है कि महावीर की तपस्या का प्रारम्भ भी ग्वाले के उपसर्ग से हुआ और अन्त भी ग्वाले के उपसर्ग से हुआ।

आगमों के अनुसार महावीर ने साधनाकाल में दारुण उपसर्ग सहे उनमें जघन्य उपसर्ग कटपूतना राक्षसी का, मध्यम उपसर्ग संगम का और उत्कृष्ट उपसर्ग कानों में कीलों के ठोकने और निकाले जाने का था।[२३]

दुर्धर तप

इस प्रकार साधक महावीर छद्मस्थ काल में लगातार लगभग साढ़े बारह वर्ष तक कठोर साधना में लगे रहे। इस बीच उन्हीं कहीं चोर समझा गया तो कहीं गुप्तचर, कहीं योगी तो कहीं भोगी, कहीं ज्ञानी तो कहीं अज्ञानी। फलत: उन्हें सभी प्रकार के उपद्रवों को झेलना पड़ा। साधक महावीर वीतरागी और महाव्रती थे। उन्हें किसी प्रकार का राग, द्वेष, मोह नहीं था। वे तो उद्यान, गुफा, पर्वत, वृक्ष का अधोभाग, चैत्य, खण्डहर आदि एकाकी स्थानों पर अपनी साधना में मग्न हो जाते थे और मौनव्रती बनकर सभी प्रकार की प्राकृतिक और अप्राकृतिक बाधाओं को सहन करते रहे।[२४]

साधनाकाल में महावीर को उचित आहार भी अप्राप्य रहा। प्राय: उन्हें नीरस आहार मिलता जिसे वे निस्पृही होकर मात्र शरीर के सञ्चालनार्थ ग्रहण कर लेते। समूचे साधनाकाल में उन्होंने कुल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया और शेष दिन निर्जल तपस्या में लगाये। कल्पसूत्र (सूत्र ११६) में उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या का वर्णन इस प्रकार

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया हुआ है—

१. छः मासी तप एक

२. पाँच दिन कम छः मासी तप एक

३. चातुर्मासिक तप नौ

४. त्रैमासिक तप दो

५. सार्ध द्वैमासिक तप दो

६. द्वैमासिक तप छः

७. सार्धमासिक तप दो

८. मासिक तप बारह

९. पाक्षिक तप बहत्तर

१०. भद्रप्रतिमा एक दिन की

११. महाभद्रप्रतिमा चार दिन की

१२. सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की

१३. छट्ठभक्त दो सौ उन्नीस

१४. अष्टमभक्त बारह

१५. पारणा तीन सौ उनचास दिन और

१६. दीक्षा का एक दिन।

केवलज्ञान की प्राप्ति

लगभग साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करते-करते महावीर की आत्मा अनुत्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विमल होती गयी। तेरहवें वर्षायोग में वे मध्यम पावा से विहार करते हुए जंभियग्राम पहुँचे और वहाँ के बाह्य उद्यान में ध्यानस्थ हो गये। साधना की यह चरमावस्था थी और उसका चरमकाल भी। महावीर की आत्मा अब पूर्णतः निर्मल हो चुकी थी। उनका राग, द्वेष, मोह समूल नष्ट हो चुका था। फलतः वैसाख शुक्ल दशमी को दिन में चतुर्थ प्रहर में ऋजुकूला नदी के तटवर्ती शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसनकाल में महावीर को कैवल्य की प्राप्ति हो गई। उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय हो गया। अब महावीर अर्हन्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। वे समस्त लोक की समस्त पर्यायों को एक साथ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हस्तामलकवत् जानने-देखने लगे।[२५] यह उनके आत्मा की अनन्त शक्ति का प्रस्फुटन था। बौद्ध साहित्य में भी उनकी सर्वज्ञता के सन्दर्भ एकाधिक बार आये हैं।[२६] वहाँ भी उन्हें गणी, गणाचार्य और तीर्थङ्कर कहकर स्मरण किया गया है। कालान्तर में उनको भगवान् कहकर भी सम्बोधित किया जाने लगा। इन सभी शब्दों के पीछे भगवान् महावीर के व्यक्तित्व की विशेषतायें छिपी हुई हैं जिन्हें हम अस्वीकार नहीं कर सकते। तीर्थङ्कर प्रकृति का यह परिणाम था।

विद्वानों की खोज में

केवलज्ञानी हो जाने पर सर्वज्ञ महावीर अर्हन्त बन गये। उन्होंने स्वयं के अनुभूतिमय जीवन-दर्शन को संसरण से संतृप्त जन-साधारण तक पहुँचाने का लक्ष्य बनाया ताकि वह भी यथाशक्ति आध्यात्मिक साधना कर संसार के इस जन्म-मरण के दुश्चक्कर से दूर हो सके। इस दृष्टि से उन्होंने अपना धर्म-प्रचार (धम्मचक्कपवत्तन) करना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम देशनाकाल में जनसमूह उनके सर्वविरति व्रत ग्रहण रूप गम्भीर उपदेश को ग्रहण नहीं कर सका। इसीलिए शायद उसे 'अभाविता परिषद्' कहा गया है। इसलिए भगवान् महावीर ने सर्वप्रथम अपनी बात कतिपय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का निर्णय किया। बुद्ध ने भी अपना प्रथम धर्मोपदेश पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। आचार्य जिनसेन के अनुसार पैंसठ दिनों तक महावीर की दिव्यवाणी प्रकट नहीं हुई। किसी ने सर्वविरति महाव्रत ग्रहण नहीं किया। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने द्वितीय दिन पावा में धर्मोपदेश दिया और तीर्थ की स्थापना की।

विद्वान् शिष्यों की खोज में महावीर जृम्भिका ग्राम से मध्यमपावा पहुँचे। वहाँ आर्य सोमिल ने विराट यज्ञ का समायोजन किया था जिसमें अनेक स्थानों से प्रकाण्ड पण्डित उपस्थित हुए थे। इस समय महावीर भी बहुजन परिचित हो चुके थे। पावा पहुँचते ही उनके भक्तों ने एक सुन्दर और सुव्यवस्थित विशाल मण्डप बनाया जिसे शास्त्रीय परिभाषा में देवरचित समवशरण कहा गया है। वहाँ बिना किसी भेद-भाव के सभी को समान रूप से बैठने का अवसर दिया गया। तात्कालिक सामाजिक विषम परिस्थिति में यह एक विशेष आकर्षक घटना थी। महावीर भगवान् ने वहाँ बैठकर अपना दिव्य उपदेश दिया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को राजगृह (पञ्चशैलपुर) के विपुलाचल पर्वत पर घटित मानती है।

प्राकृत : अभिव्यक्ति का माध्यम

भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा जन-साधारण की थी जिसे अर्धमागधी अथवा प्राकृत कहा गया है। संस्कृत तो अभिजात्य वर्ग की भाषा थी जो विशेष शिक्षित अथवा उच्च वर्गों और उच्च वर्णों तक सीमित थी। यह वर्ग संख्या में अल्पतर था।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए लोकभाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। प्राकृत ही सर्वसाधारण व्यक्ति की अभिव्यक्ति का साधन था। यही कारण था कि सभी श्रोतागण उनके उपदेश को भली-भाँति समझ लिया करते थे। यह प्रथम अवसर था जबकि किसी ने लोकभाषा को इतना महत्त्व दिया। इस लोकभाषा का क्षेत्र उत्तर में वैशाली से लेकर दक्षिण में राजगृह और मगध के दक्षिणी किनारे तक तथा पूर्व में राढ़भूमि से लेकर पश्चिम में मगध की सीमा तक फैला था।

गणधर

भगवान् महावीर का व्यक्तित्व बहुत अधिक लोकप्रिय हो चुका था। वे विद्वानों और मनीषियों में अप्रतिम थे। उनके उपदेश सर्वसाधारण के भी अन्त:स्तल तक पहुँचने लगे थे। इसलिए वे जनसमुदाय के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु बन गये थे। इस स्थिति में यह आवश्यक था कि भगवान् महावीर अपने धर्म-प्रचार के लिए कतिपय विशिष्ट विद्वानों को शिष्य बनायें जो उनके सिद्धान्तों को समुचित रूप से समझकर जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर सकें। इन्हीं शिष्यों को शास्त्रीय परिभाषा में गणधर कहा गया है।

महावीर स्वामी के इस प्रकार के ग्यारह गणधर बताये गये हैं— इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। ये सभी विद्वान् महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके पास आए और अपने प्रश्नों का समाधान पाकर उनके परम शिष्य बन गये।

१. इन्द्रभूति गौतम

मगधवर्ती गौर्वर ग्राम में वसुभूति नामक एक ब्राह्मण विद्वान् रहता था। उसके तीन पुत्र थे— इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति। ये तीनों पुत्र भी वैदिक साहित्य और क्रियाकाण्ड के कुशल और प्रतिभाशाली पर अहंमन्य पण्डित थे। वे अपने समक्ष और किसी दूसरे की विद्वत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उस समय यज्ञ क्रियाकर्म अधिक लोकप्रिय था। मध्यमपावा में इन्द्रभूति अपने शिष्यों सहित आर्य सोमिल के विराट यज्ञ का आयोजन करा रहे थे। भगवान् महावीर भी जृम्भिकाग्राम से वहाँ पहुँचे और बाह्य उद्यान में ध्यानस्थ हो गए।

आश्चर्य की बात थी कि जन समुदाय याज्ञिक उत्सव की अपेक्षा महावीर के दर्शन करने में अधिक उत्साह दिखा रहा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक क्रियाकाण्ड की जड़ें हिल चुकी थीं। समाज सही मार्गदर्शन पाने के लिए आतुर था।

इन्द्रभूति के लिए भगवान् महावीर की लोकप्रियता ईर्ष्या का कारण बन गई। दिगम्बर परम्परा[२७] के अनुसार इतने में ही एक वृद्ध विद्वान् व्यक्ति उससे निम्नलिखित श्लोक का अर्थ पूछने आया—

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।

अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य।।

इन्द्रभूति के लिए अत्थिकाय, छज्जीवणिकाय, महव्वय, अट्ठपवयणमादा आदि पारिभाषिक शब्द बिलकुल नए थे। इसलिए विवश होकर उन्हें उससे यह कहना पड़ा कि मैं इस गाथा का अर्थ तुम्हारे गुरु के समक्ष ही बताऊँगा।

यहां वृद्ध शिष्य षट्खण्डागम के अनुसार तो इन्द्र था पर अपने आपको तीर्थङ्कर या विद्वान् मानने वालों की परीक्षा करने वाला कोई विशिष्ट व्यक्ति रहा होगा अथवा यह भी सम्भव है कि महावीर की देशना कहाँ तक तथ्यसंगत है यह ज्ञात करने के लिए वह पण्डित-मान्य इन्द्रभूति के पास पहुँचा हो।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इन्द्रभूति आदि पावा में विशिष्ट यज्ञ के आयोजन में आये हुए थे। उन्होंने भगवान् महावीर के विशिष्ट तेजस्वी व्यक्तित्व को देखकर उन्हें पराजित करना चाहा और वे क्रमशः भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचे।

महावीर के पास पहुँचते ही इन्द्रभूति गौतम स्वतः हतप्रभ होने लगे। समवशरणवर्ती मानस्तम्भ अज्ञानान्धकार को विगलित करने वाला प्रकाशस्तम्भ बन गया। महावीर ने स्वयं उसके हृदयांकित प्रश्नों को उसके समक्ष रखा। इन्द्रभूति को आत्मा के अस्तित्व के सन्दर्भ में विशेष शंका थी। उसका पक्ष था कि आत्मा घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमानगम्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक होता है। आत्मा आगमगम्य भी नहीं है क्योंकि अनुमान के बिना आगम की सिद्धि नहीं होती। अदृष्टार्थ विषयक नरक, स्वर्ग आदि की सिद्धि का भी अनुमान ही मूल कारण है तथा तीर्थङ्करों के सभी आगम परस्पर विरोधी हैं अतएव आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय ही उत्पन्न होता है।

भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम के उक्त सन्देह को दूर करते हुए कहा कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि स्वसंवेदन-सिद्ध जो संशयादि विज्ञान तुम्हारे हृदय में प्रस्फुटित हो रहा है वह विज्ञान ही आत्मा है। और जो प्रत्यक्ष है वह प्रमाणान्तर द्वारा साध्य नहीं अथवा अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जैसे स्वशरीर में ही सुख-दुःखादिक आत्मसंवेदन सिद्ध है तथा जानता हूँ, बोलता हूँ, करता हूँ, इत्यादि प्रकार से जो यह त्रैकालिक कार्य व्यपदेश है उसमें रहने वाले अहं प्रत्यय से भी आत्मसिद्धि होती है। जिसे आत्मनिश्चय का संशय होगा, वह कर्मबन्ध मोक्षादिक के विषय में भी संशयालु रहेगा। स्मृति, जिज्ञासा, चिकीर्षा आदि गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से घट जैसे आत्मा गुणी भी प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। यदि गुणों से गुणी को अनर्थान्तर भूत माना जाय तो उसके ग्रहण होने पर आत्मा का ग्रहण हो ही जायगा। यदि गुणों से गुणी को अर्थान्तरभूत माना जाय तो घटादिक गुणी भी प्रत्यक्ष नहीं होंगे। अतः द्रव्य से विरहित

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई गुण नहीं होता है।[२८]

इन्द्रभूति गौतम महावीर भगवान् से अपने प्रश्न का समुचित समाधान पाकर प्रसन्न हुआ और तत्काल उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उसकी प्रतिभा का उन्मेष हुआ और श्रद्धा व्यक्त हुई तथा परिणाम निर्मल हुए। जैन साहित्य में इन्द्रभूति को प्रथम गणधर कहा गया है। भगवान् महावीर के उपदेशों का विश्लेषण, प्रचारण और प्रसारण का समूचा उत्तरदायित्व और श्रेय इन्द्रभूति गौतम को ही है।

२. अग्निभूति

इन्द्रभूति के बाद शेष दश प्रमुख विद्वान् भी क्रमशः महावीर के शिष्य बन गये। द्वितीय विद्वान् अग्निभूति का सन्देह था कि कर्म है या नहीं। महावीर ने कहा कि कर्म का अस्तित्व निश्चित रूप से है। वह प्रत्यक्षतः नहीं पर अनुमानतः अवश्य दिखाई देता है। सुख-दुःखादिक की अनुभूति का कारण कर्म ही है। तुल्य साधन होने पर सुख-दुःखादि के अनुभवन में जो तारतम्य देखा जाता है उसका मूल कारण कर्म है। बाल शरीर का पूर्ववर्ती जो शरीरान्तर है वह कर्म है। वही कर्म कार्माण शरीर है।[२९] अपने प्रश्न का उचित उत्तर पाकर अग्निभूति भी महावीर का शिष्य बन गया।

३. वायुभूति

वायुभूति का मन्तव्य था कि चैतन्य भूतों का धर्म है तथा शरीर और आत्मा अभिन्न है। महावीर ने कहा कि भूत की प्रत्येक अवस्था में चेतना का अभाव होने पर सामुदायिक रूप में चेतना की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? रेणु समुदाय में भी तेल कैसे उत्पन्न हो सकता है? भूतों के प्रत्येक अंग में चेतन की न्यूनमात्रता मानी जाय और उसके सामुदायिक रूप से चेतना की उत्पत्ति मानी जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार मद्यांगों में न्यूनाधिक मात्रा में मद शक्ति रहती है उसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्य शक्ति दिखाई नहीं देती। मद्य के प्रत्येक अङ्ग में मदशक्ति मानना आवश्यक कहा नहीं जा सकता अन्यथा कोई भी वस्तु मद का कारण हो जायगी। अतः चैतन्य भूतों का धर्म नहीं माना जा सकता और न शरीर व आत्मा अभिन्न कहे जा सकते हैं।[३०] वायुभूति भी अपने प्रश्न का समाधान पाकर महावीर का शिष्य हो गया।

४. व्यक्त

विद्वान् व्यक्त अथवा शुचिदत्त का सन्देह था कि भूतों का कोई अस्तित्व नहीं। वे मात्र स्वप्नोपम हैं। महावीर ने कहा यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाशकुसुम के समान सन्देह ही उत्पन्न नहीं होगा। विद्यमान वस्तु में ही सन्देह उत्पन्न होता है। व्यक्त का समाधान हुआ और उसने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। आगे चलकर यही सिद्धान्त शून्यवाद के रूप में साहित्य और दर्शन में

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्फुटित हुआ। विशेषावश्यक भाष्य में तो इसे शून्यवाद दर्शन ही कहा गया है।[३१]

५. सुधर्मा

सुधर्मा 'इह भव के समान ही परभव में भी गति मिली है' यह मानते थे। महावीर ने कहा यह सोचना भ्रममूलक है। कार्य कारण के समान होता है, यह नियम एकान्तिक नहीं। श्रृङ्ग से शर नामक वनस्पति होती है। उसमें सर्षप लगा देने पर भूतृण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों का फल भिन्न-भिन्न होता है। उनके अनुसार ही परलोक में जन्म मिलता है।[३२]

६. मण्डित

"जीव का कर्म के साथ संयोग और मोक्ष होता है" इसमें मण्डित को सन्देह था। भगवान् महावीर ने कहा— बीजांकुर के समान देह और कर्म अनादि हैं हेतुहेतुमद्भाव होने से। घट का कर्ता कुम्भकार है। उसी के समान जीव कर्म का कर्ता है और उसी प्रकार कारण होने से कर्म देह का कारण है। अनादि होने पर भी जीव और कर्म का संयोग तप द्वारा नष्ट हो सकता हे। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है।[३३]

७. मौर्य पुत्र

मौर्यपुत्र को स्वर्गों (देवों) के अस्तित्व में सन्देह था। महावीर ने कहा देवों का अस्तित्व है। यह जातिस्मरण आदि से सिद्ध है। देवों के न होने पर स्वर्गीय फल निष्फल हो जाएगा और वेद-वाक्य निरर्थक हो जावेंगे।[३४] मौर्य का सम्बन्ध पिप्पलीवन के मोरियों से था जो व्रात्य क्षत्रिय थे। यहाँ एक पूरा ग्राम मयूर पोषकों कका था। चन्द्रगुप्त (प्रथम) इसी मौर्य वंश का था।

८. अकम्पित

अकम्पित का मत था कि प्रत्यक्ष और अनुमान से उपलब्ध न होने के कारण नारकियों का अस्तित्व नहीं है। महावीर ने कहा— नारकियों का अस्तित्व है क्योंकि उसे सर्वज्ञ ने देखा है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तो उपचारतः रहता है। इन्द्रियाँ अमूर्त होने से उपलब्धि करने में असमर्थ हैं, समर्थ तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। पाँच खिड़कियों से देखने वाले एक व्यक्ति के समान जीव इन्द्रियों से भिन्न है। इन्द्रिय-रूप आच्छादन रहित जीव अधिक वस्तुओं को जानता है। अतः नरक सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों कारण सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृष्ट पुण्यभागी देव हैं तो प्रकृष्ट पाप भागी नारकी भी हैं ही।[३५]

९. अचलभ्राता

अचल भ्राता के मन में पुण्य-पाप के सम्बन्ध में पाँच विकल्प थे— (१) केवल

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य है, (२) केवल पाप है, (३) दोनों अपृथक् हैं, (४) दोनों पृथक् हैं तथा (५) स्वभाव ही सब कुछ है। महावीर ने उत्तर दिया कि पथ्याहारी के समान पुण्य की उत्कर्षता और अपकर्षता देखी जाती है। इसी प्रकार अपथ्याहार से दुःख देखा जाता है। अत: पुण्य-पाप दोनों हैं और वे संयुक्त हैं। परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष में उन्हें तदनुसार नाम दे देते हैं। दोनों पृथक् हैं और सुख, दुःख से उनका अस्तित्व माना जाता है। स्वभाव ही सब कुछ नहीं है।[३६]

१०. मेतार्य

मेतार्य को सन्देह था कि परलोक अथवा पुनर्जन्म है या नहीं। महावीर ने इसका समाधान किया और कहा कि जातिस्मरण आदि के कारण यह सिद्ध है कि भूतों के व्यतिरिक्त आत्मा है। वह अमर है और एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, यही पुनर्जन्म है।

११. प्रभास

प्रभास का मत था दीप के नाश की तरह जीव का निर्वाण जीव का नाश है। अथवा अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश हो जाता है। फिर मोक्ष कहाँ? महावीर ने इसका उत्तर दिया कि नारकादि पर्यायों के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश नहीं होता। जीवत्व कर्मकृत नहीं। कर्मनाश होने पर संसार का नाश अवश्य होता है। स्वभाव से विकार धर्म वाला न होने से जीव विनाशी सिद्ध नहीं होता। मुक्त हो जाने पर जीव और कर्म का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। यहाँ भगवान् महावीर ने पदार्थ के स्वरूप का भी विश्लेषण किया कि वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। निश्चयनय ध्रौव्यात्मक तत्त्व का प्रतीक है और व्यवहारनय उत्पाद-व्यय तत्त्वों का।

इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम और उसके दशों प्रधान विद्वान् साथी महावीर स्वामी की प्रकाण्ड विद्वत्ता और सर्वज्ञता के समक्ष सविनय नतमस्तक हुए और अपने चौदह हजार शिष्य परिवार सहित उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर लिया। महावीर स्वामी के ये ग्यारह प्रधान शिष्य हुए जिन्हें जैन शास्त्रों में गणधर कहा गया है। इन ग्यारह गणधरों में प्रधान थे— इन्द्रभूति गौतम।

दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओं में गणधरों की संख्या में तो कोई मतभेद नहीं पर उनके नामों में मतभेद अवश्य है। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा, मौर्यपुत्र, अकम्पित और प्रभास तो दोनों परम्पराओं को मान्य हैं पर व्यक्त, मण्डित, अचलभ्राता और मेतार्य को दिगम्बर परम्परा स्वीकार नहीं करती। उनके स्थान पर वह मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय और अन्धवेल का नाम प्रस्तावित करती है। यहाँ यह भी दृष्टव्य

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि श्वेताम्बराम्नाय मौर्यपुत्र को एक ही गणधर मानती है पर दिगम्बराम्नाय उसे मौर्य और पुत्र नाम के पृथक-पृथक दो गणधर बताती है।[३७]

चतुर्विध संघ की स्थापना

ग्यारह गणधरों के शिष्य बन जाने पर महावीर भगवान् की लोकप्रियता और विश्रुति और भी अधिक बढ़ गई। साथ ही उनके अनुयायियों की संख्या में भी वृद्धि होना प्रारम्भ हो गया। यह देखकर भगवान् ने नव गणों की स्थापना की और उनका उत्तरदायित्व पूर्वोक्त गणधरों को सौंप दिया।

इसके उपरान्त उन्होंने अपने अनुयायियों को भी चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया— श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। आर्यिकाओं के नेतृत्व श्रमणी चन्दनबाला को सौंपा गया।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन चतुर्विध संघ की स्थापना की। बौद्ध साहित्य में संघी, गणी, गणाचरिय, तित्थकर, सव्वञ्ञु आदि सम्माननीय शब्दों से उनका अनेक बार स्मरण किया गया है।

धर्मप्रचार और वर्षावास

चतुर्विध संघ की स्थापना के उपरान्त भगवान् महावीर ने सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय धर्मप्रचार करना प्रारम्भ किया ताकि सांसारिक प्राणी भौतिकता से दूर हटकर आत्म-कल्याण कर सकें। जनकल्याणकारिता के कारण ही उन्हें अर्हन्त जिन कहा गया है और पंच परमेष्ठियों में प्रथम परमेष्ठी के अन्तर्गत उनका नाम रखा गया है।

केवलज्ञान प्राप्ति के बाद की भी जीवन-घटनाओं का विवरण दिगम्बर साहित्य में समुचित और सुसम्बद्ध नहीं मिलता जबकि श्वेताम्बर साहित्य में उसे किसी सीमा तक क्रमबद्ध कर दिया गया है। दोनों परम्पराओं के आधार पर भगवान् महावीर के धर्मप्रचार और वर्षावास के प्रमुख स्थल निम्न प्रकार से निश्चित किये जा सकते हैं—

१. मध्यमपावा, राजगृह (वर्षावास)।

२. ब्राह्मणकुण्ड, क्षत्रियकुण्ड, वैशाली (वर्षावास)।

३. कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।

४. राजगृह (वर्षावास)।

५. चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।

६. वाराणसी, आलंभिया, राजगृह (वर्षावास)।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. राजगृह (वर्षावास)।

८. कौशाम्बी, आलंभिया, वैशाली (वर्षावास)।

९. मिथिला, काकन्दी, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)।

१०. राजगृह (वर्षावास)।

११. कवंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।

१२. ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास)।

१३. चम्पा (वर्षावास)।

१४. काकन्दी, मिथिला (वर्षावास)।

१५. श्रावस्ती, मिथिला (वर्षावास)।

१६. हस्तिनापुर, मोकानगरी, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।

१७. राजगृह (वर्षावास)।

१८. चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।

१९. काम्पिल्यपुर, वैशाली (वर्षावास)।

२०. वैशाली (वर्षावास)।

२१. राजगृह, चम्पा, राजगृह (वर्षावास)।

२२. राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।

२३. वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)।

२४. साकेत, वैशाली (वर्षावास)।

२५. राजगृह (वर्षावास)।

२६. नालन्दा (वर्षावास)।

२७. मिथिला (वर्षावास)।

२८. मिथिला (वर्षावास)।

२९. राजगृह (वर्षावास)।

३०. अपापापुरी (वर्षावास) — परिनिर्वाण स्थल।

भगवान् महावीर ने अपने तीस वर्षीय धर्मप्रचारकाल में जैनधर्म को भारतवर्ष के कोने-कोने में फैला दिया। उनका भ्रमण विशेषतः उत्तर, पूर्व, पश्चिम और मध्यभारत

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अधिक हुआ। बड़े-बड़े राजे-महाराजे भी उनके अनुयायी भक्त थे। श्रावस्ती का नरेश प्रसेनजित, मगध का नरेश श्रेणिक, चम्पा का नरेश दधिवाहन, कौशाम्बी का नरेश शतानीक, कलिंग का नरेश जितशत्रु आदि जैसे प्रतापी महाराजा भगवान् के भक्त और उपासक थे।

दक्षिणापथ में भी भगवान् का विहार हुआ। उस समय यह भाग हेमांगद के नाम से विश्रुत था। महाराजा सत्यन्धर के सुपुत्र जीवंधर उस समय वहाँ के राजा थे। राजपुर उसकी राजधानी थी। जैनधर्म का प्रचार यद्यपि उस प्रदेश में पहले से ही था पर महावीर के भ्रमण से उसमें एक नया उत्साह और नयी प्रेरणा जागरित हुई। आज भी दक्षिण में जैनधर्म, साहित्य और कला के प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। श्रीलंका आदि दक्षिणवर्ती देशों में उस समय जैनधर्म पहुँच गया था। पालि साहित्य, विशेषत: महावंश इसका विश्वसनीय प्रमाण है।

संघ प्रमाण

भगवान् तीर्थङ्कर महावीर का व्रती संघ[३८] इस प्रकार था—

१.	गणधर	११
२.	गण	७ अथवा ९
३.	केवली	७००
४.	मन:पर्ययज्ञानी	५००
५.	अवधिज्ञानी	१३००
६.	चौदह पूर्वधारी	३००
७.	वादी	४००
८.	वैक्रियकलब्धिधारी	७००
९.	अनुत्तरोपपातिकमुनि	८००
१०.	साधु	१४०००
११.	साध्वियाँ (आर्यिकायें)	३६०००
१२.	श्रावक	१५९०००
१३.	श्राविकायें	३१८०००
		५३१७१८

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें साधारण श्रावक-श्राविकाओं की गणना सम्मिलित नहीं है। मात्र व्रतधारियों की ही यहाँ गणना की गई है। सम्भव है यहाँ व्रती संघ के अन्तर्गत उन्हीं को रखा गया हो, जो प्रव्रजित साधुओं की ही होगी। उद्दिष्टत्यागी को भी श्रावक कहा गया है। साधारण श्रावक-श्राविकाओं की गणना नहीं होगी।

परिनिर्वाण

राजगृह में उनतीसवाँ वर्षावास कर तीर्थङ्कर महावीर धर्म-प्रचार करते हुए मल्लों की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) पहुँचे। वहाँ के राजा हस्तिपाल ने उनका भावभीना स्वागत किया। धर्मोपदेश देते हुए अपापापुरी में वर्षाकाल के तीन माह व्यतीत हो चुके। चौथे माह की कार्तिक कृष्णा अमावस्या का प्रात:काल भगवान् महावीर का अन्तिम समय था। वे अनवरत धर्मदेशना दे रहे थे। उनकी सभा में काशी, कोशल के लिच्छवी, नौ मल्ल और अठारह गणराजा भी उपस्थित थे। अन्त में उन्होंने अधातिया कर्मों का भी क्षय कर परम निर्वाण पद प्राप्त किया।[३९] पालि साहित्य में भी इस घटना का वर्णन मिलता है।

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष की आयु में महाभिनिष्क्रमण किया एवं छद्मस्थ काल के बारह और केवलीचर्या के तीस, कुल बयालीस चातुर्मास किये। इस प्रकार कुल मिलाकर महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की मानी गई है तदनुसार उनका परिनिर्वाण ५२७ ई०पू० में हुआ।

इस निर्वाण प्राप्ति के उपलक्ष्य में लिच्छवि, मल्ल राजा महाराजाओं ने दीप जलाकर निर्वाण महोत्सव मनाया। आज भी दीपावली के रूप में उसे धूमधाम से मनाया जाता है।

पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों का आकलन

कल्पसूत्र के प्रथम भाग में भगवान् महावीर के बाद तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जीवन चरित दिया गया है। वे महावीर से लगभग २५०वर्ष पूर्व हुए थे। उनका जन्म वाराणसी में पौष वदि दशमी को विशाखा नक्षत्र में वामा देवी के कोख से हुआ था। लगभग बीस वर्ष की आयु में पार्श्वनाथ का विवाह राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती के साथ हुआ।

उसी समय कमठ नाम का एक तपस्वी हठयोग कर रहा था। पार्श्वनाथ ने उसे सही तपस्या का रूप समझाया। वहीं एक लकड़ी जल रही थी। पार्श्व ने कहा— इस लकड़ी के अन्दर एक सर्प युगल झुलस रहा है। इसे निकालिए। निकालने पर उनकी बात सही निकली। पार्श्व ने अधमरे उस सर्पयुगल को णमोकार मन्त्र का पाठ सुनाया जिसके प्रभाव से मरकर वे धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। कमठ का जीव भी मेघमाली

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव हुआ।

इधर पार्श्वनाथ का मन वैराग्य की ओर बढ़ा और उन्होंने श्रमण दीक्षा ले ली। एकान्त में उन्हें ध्यान करते हुए देखकर बदला लेने की दृष्टि से मेघमाली ने उन पर घनघोर उपसर्ग किये। वहीं धरणेन्द्र-पद्मावती ने उसी तरह भगवान् की सुरक्षा की। भगवान् भी उन उपसर्गों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। फलत: उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसके बाद उन्होंने लाखों लोगों को धर्मोपदेश दिया और लगभग सौ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों का दर्शन जैन, बौद्ध साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। वे 'चाउज्जमधम्म' के प्रवर्तक थे। तथागत बुद्ध ने उनकी परम्परा में दीक्षित होकर कुछ समय तक आध्यात्मिक साधना की थी। बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र मौद्गलायन भी बौद्धधर्म में दीक्षित होने के पूर्व पार्श्व-परम्परा के अनुयायी थे। कालान्तर में जैनधर्म की उत्कृष्ट साधना की आराधना करने में असमर्थ होने से भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपना लिया।

कल्पसूत्र ने विलोम शैली को अपनाकर महावीर के चरित्र को सर्वप्रथम हमारे सामने अलंकारिक शैली में प्रस्तुत किया। इसके बाद क्रमश: तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि तीर्थङ्करों का वर्णन करते हुए अन्त में ऋषभदेव का जीवन चरित्र लिखा। यद्यपि तीर्थंक ऋषभदेव के विषय में हम पीछे लिख चुके हैं पर यहाँ कल्पसूत्र का प्रसंग आने के कारण पुन: उसे संक्षेप में दुहरा रहे हैं।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव

अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग में काल के प्रभाव से भोगभूमि का रूप समाप्त होने लगा तब कुलकर व्यवस्था प्रारम्भ हुई। जैन परम्परा के अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए। उनकी पत्नी मरुदेवी की कुक्षि में वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर उत्तराषाढ नक्षत्र में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के पिछले भाग में मरुदेवी ने चौदह स्वप्न देखे (दिगम्बर परम्परा में यह संख्या १६ है)। उस समय का वातावरण बड़ा शान्त और मनोरम था। चारों दिशाओं में खुशहाली थी मानों कोई नया सूर्य उदित हो रहा हो।

बालक का जन्म होने पर उसका नाम ऋषभदेव रखा गया। उसका वंश इक्ष्वाकु कहलाया। युवक होने पर सुनन्दा और सुमंगला से उसका विवाह हुआ। कालान्तर में सुमंगला से भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा से बाहुबली और सुन्दरी का जन्म हुआ युगल रूप में। बाद युगल रूप में जन्मे उनके १०० पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। इनमें भरत की पटरानी अनन्तमति के पुत्र मरीचि के ही जीव ने बाद में महावीर के रूप में जन्म लिया।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषभदेव ने शासन-व्यवस्था का विकास किया। उन्होंने कला-विज्ञान और सामाजिक-व्यवस्था का भी सूत्रपात किया। एक लम्बी अवधि तक राज्य करने के बाद उन्होंने अपने सभी पुत्रों को यथा रूप राज्य सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। पुत्रों ने भी अपने-अपने राज्य को समृद्ध और सम्पन्न किया। भरत ने छहो खण्ड जीत लिये पर बाहुबली का राज्य अविजित रहा। फलतः दोनों भाइयों के बीच जो मल्लयुद्ध, जलयुद्ध और दृष्टियुद्ध हुए। उन सबसे हमारा परिचय है ही। इन सभी युद्धों में बाहुबली की जीत हुई।

इस जीत से बाहुबली ने निरासक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, पर उनके मन में अहंकार की पतली-सी परत बनी रही जिससे केवलज्ञान होने में बाधा खड़ी हो गई। भरत को जैसे ही इस तथ्य का पता चला, वे बाहुबली के पास पहुँचे और भलीभांति उन्हें समझाया। फलतः बाहुबली को केवलज्ञान हो गया। भरत ने भी यह सब विचार कर जिनदीक्षा ले ली। तीनों ने यथासमय मोक्ष प्राप्त किया।

ऋषभदेव का व्यक्तित्व बड़ा चुम्बकीय था, तलस्पर्शी था। इसलिए समूचा वैदिक और बौद्ध साहित्य उनको अपने-अपने आगम में स्मरण कर रहा है। भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भी भारतवर्ष पड़ गया।

कल्पसूत्र के द्वितीय खण्ड में स्थविरावली दी गई है। ये स्थविर ऐसे हैं जिन्होंने जैनधर्म की गौरवमयी परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनमें अग्रगण्य हैं महावीर के ग्यारह गणधर। उनके नाम हैं— इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। इनमें गौतम और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण महावीर के सामने ही हो गया था। इसके बाद गौतम गणधर बारह वर्ष तक जीवित रहे और सुधर्मा भी बारह अथवा बीस वर्ष के बाद परिनिर्वृत हो गये। एक परम्परा गौतम गणधर को प्रथम आचार्य मानती है तो दूसरी परम्परा के अनुसार सुधर्मा ही प्रथम आचार्य थे। कल्पसूत्र की स्थविरावली सुधर्मा से ही प्रारम्भ होती है। सम्भव है, संघ की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुधर्मा से प्रारम्भ हुआ हो। केवली के रूप में सुधर्मा ने ४४ वर्ष तक शासन को सम्हाला और महावीर के चौंसठ वर्ष बाद उनका परिनिर्वाण हो गया।

इसके बाद ५ श्रुतकेवली हुए जिनमें प्रभव का ११ वर्ष, शय्यंभव का २३ वर्ष, यशोभद्र का ५० वर्ष, सम्भूतिविजय का ८ वर्ष और भद्रबाहु का १४ वर्ष का शासन रहा। तदनन्तर कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार १२ दशपूर्वधर हुए जिनका कुल कार्यकाल ४१४ वर्ष रहा। स्थूलभद्र ४५ वर्ष, महागिरि ३० वर्ष, सुहस्ति ४६ वर्ष, गुणसुन्दर ४४ वर्ष, कालकाचार्य (श्यामाचार्य) ४१ वर्ष, शाण्डिल्य ३८ वर्ष, रेवतीमित्र ३६ वर्ष, आर्य मंगु २० वर्ष, आर्यधर्म २४ वर्ष, भद्रगुप्त ३९ वर्ष, श्रीगुप्त १५ वर्ष

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और वज्र ३६ वर्ष। इस तरह दश पूर्वों का ज्ञान महावीर के परिनिर्वाण के ५८४ वर्ष बाद तक चलता रहा। दिगम्बर परम्परा में यह समय ३४५ वर्ष ही माना जाता है।

श्रुतिलोप का क्रम बढ़ता ही गया। दश पूर्वों के विच्छेद हो जाने के बाद विशेषपाठियों का भी विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद हुआ मानती है। पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आर्यवज्र के बाद २३ वर्ष तक आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य रहे। वे साढ़े नौ पूर्वों के ज्ञाता थे। उन्होंने विशेष पाठियों का क्रमशः ह्रास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। फिर भी पूर्वों के लोप को नहीं बचाया जा सका। यह स्थिति महावीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई। यहाँ यह स्पष्ट है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पाटलिपुत्र वाचना में उपस्थित नहीं हो सके। फिर भी अन्य साधुओं के माध्यम से ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वे अंग आज भी प्रचलित हैं। आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण अन्तिम दशपूर्वधारी वज्र मुनि की परम्परा में हुए। उन्हीं के नेतृत्वमें यह आगम साहित्य लिपिबद्ध हुआ महावीर निर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद।

कल्पसूत्र का तीसरा भाग समाचारी है जिसमें 'णाणस्स सारं आयारो' के आधार पर आचार का वर्णन किया गया है। समाचारी का अर्थ है सम्यक् आचार का वर्णन करने वाला। इस भाग में साधु वर्ग के निर्दोष आचार की व्याख्या है। इसे ही 'पज्जोसणा कप्प' कहा जाता है जो आयारदसा (दशाश्रुतस्कन्ध) का ८वाँ अध्ययन है।

आचरण ज्ञान के ऊपर है

तीर्थङ्कर महावीर ने कोरे ज्ञान कौ कतई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने आचरण को विशेष महत्त्व दिया। इसलिए वे ज्ञानवादी नहीं, आचरणवादी कहलाये। जैन आगमों का प्रारम्भ ही आचारांग से होता है जहाँ कहा गया है 'णाणस्स सारो आयारो'। उत्तरकालीन सारे आचार्यों ने इस कथन का पूरी तरह से अनुकरण किया है। कल्पसूत्र के अन्तिम भाग समाचारी में यही तथ्य मुख्य रूप से वर्णित है।

ज्ञान वस्तुतः किताबी ज्ञान है यदि वह अनुभव में न उतरे। स्वानुभूति बिना ज्ञान के पंगु है, अधूरा है। आस्था और श्रद्धा भी उसी का अनुकरण करती है। इसमें वही अन्तर है जो अन्तर एक भाषण और प्रवचन में होता है। भाषण उधार लिये हुए ज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र है पर प्रवचन एक विशिष्ट वचनों का प्रगटीकरण है जो अनुभूति के माध्यम से उतरता है। इसलिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ 'सम्यक्' विशेषण लगा दिया गया है ताकि थोथे ज्ञान और मिथ्या तप की उपेक्षा की जा सके। 'रत्नत्रय' सिद्धान्त के पीछे यही धारणा रही है और तीनों के समन्वित मार्ग को ही सच्ची सफलता का सूत्र माना है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतनता, जानना और देखना, ज्ञान और दर्शन आत्मा का मूल स्वभाव है। पूर्ण विशुद्धता उसका लक्षण है। वह स्वतन्त्रता, निश्चल, कर्ता और भोक्ता है। परन्तु कर्मों के प्रभाव से उसका मूल स्वभाव ढक जाता है, उस पर धूलि का आवरण चढ़ जाता है। यही आवरण संसार में जन्म-मरण लेने की प्रक्रिया को बढ़ा देता है। दुःखों का सागर इसी से गहराता चला जाता है।

आचरण का प्रमुखतम साधन है अपरिग्रहवृत्ति। सारी बुराइयों की जड़ है आसक्ति। आसक्ति लोभ का ही दूसरा नाम है। वह विवेक के चेहरे पर अपना चेहरा ऐसा चिपका देता है कि वह मुखौटा मूल चेहरे से भी कभी-कभी बेहतर दिखाई देता है। सारी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि जैसे पापों के पीछे यही मुखौटा, परिग्रह का भाव काम करता है और सन्मार्ग में कांटे बिछाता है। लगता है, परिग्रह ही पाप का मूल कारण रहा होगा तीर्थङ्कर महावीर की दृष्टि में।

अपरिग्रह वृत्ति के बाद हम खान-पान की ओर दृष्टि दें। जैनधर्म एक जीवन पद्धति है, जिन्दगी का रास्ता है जहाँ व्यक्ति निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर चल सकता है। आज का विज्ञान क्षेत्र इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि खान-पान का असर हमारे मन पर और हमारी वृत्तियों पर पड़ता है। जैन जीवन पद्धति शुद्ध शाकाहार को तरजीह देती है। शाकाहार मानवता की पुकार है। आश्चर्य है थोड़े से तथाकथित स्वाद के लिए व्यक्ति अपनी मानवता को चट कर जाता है और पशुवृत्ति का प्रतीक मांसाहार करने में जुट जाता है। मांसाहार कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है, अनिवार्य तत्त्व है अनाज और खाद्य वनस्पतियाँ। इसका कोई विकल्प भी नहीं है। क्रूरता, आवेश आदि तामसिक वृत्तियाँ, मांसाहार से अधिक बढ़ती हैं। हृदय रोग, कैंसर, मिर्गी, संधिवात, मोटापा, त्वचा रोग आदि अनेक भीषण रोग मांसाहार से अधिक होते हैं। मांसाहारी पशु और शाकाहारी पशुओं की शरीर-रचना भी बिलकुल भिन्न होती है। शाकाहार में प्रोटीन कम होते हैं यह धारणा भी बिल्कुल गलत साबित हो गई है। अत: जैनधर्म विशुद्ध शाकाहार पर बल देता है।

अहिंसादि व्रतों का परिपालन एक साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। अत: वह 'अणुव्रत' कहा जाता है। अणुव्रती होना सच्चे श्रावक का लक्षण है। उसका जीवन निर्व्यसनी होना चाहिए। मद्य, मांसादि के सेवन से विरत होना चाहिए। धनार्जन भी न्यायपूर्वक हो। उसमें शोषण न हो। अहंकारादि भावों से दूर रहकर समता भाव उसकी आधारशिला हो। अर्जन के साथ विसर्जन भी उतना ही आवश्यक है।

आचरण का चतुर्थ आयाम है चिन्तन और अभिव्यक्ति में समता भाव। समन्वय चेतना और समतामयी विचारधारा अशान्त वातावरण को प्रशान्त बना

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देती है। कोई भी सांसारिक व्यक्ति पदार्थ के सभी गुणों का वर्णन एक साथ नहीं कर सकता और फिर हर एक के विचारों में सत्यांश रहता ही है। उस सत्यांश का आदर करना, स्वीकार करना हमारा धर्म है। इसी को स्याद्वाद और अनेकान्तवाद कहा जाता है। जहाँ नय की विवक्षा से 'कथंचित' या 'स्यात्' का प्रयोग कर अपना विचार रखा जाता है।

अनेकान्तवाद सभी प्रकार की विषमताओं से आपादमग्न समाज को एक नयी दिशा-दान देता है। उसकी कटी पतंग को किसी तरह सम्हालकर उसमें अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्थिर, मजबूत और वैचारिक चेतना से सनी डोर लगा देता है, आस्था और ज्ञान की व्यवस्था में नया प्राण फूंक देता है। तब संघर्ष के स्वर बदल जाते हैं, समन्वय की मनोवृत्ति, समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने शास्त्रीय व्यामोह से मुक्त होने के लिए, अपने वैयक्तिक एक पक्षीय विचारों की आहुति देने के लिए और निष्पक्षता, निर्वैरता-निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल धूसरित होने से बचाने के लिए।

सदाचरण की फलश्रुति है सहयोग, सद्भाव, समन्वय और समताभाव। इन भावों पर आधारित हमारी जीवनशैली निश्चित ही सुसंस्कृत, संघर्षविहीन और निष्कंटक होगी। दूसरे के अस्तित्व को स्वीकारना और निरहंकारी, सरल, अहिंसक और निरासक्त जीवन यापन करना आचरण की परिभाषा है। पर्युषणपर्व ऐसे ही सदाचरण की वकालत करता है और जीवन को नयी रोशनी से भर देता है।

अन्तगड सूत्र

कल्पसूत्र के वाचन में उत्तरकाल में कुछ शिथिलता आने लगी, पौरोहित्य बढ़ गया और आडम्बर ने अपना स्थान मजबूत कर लिया। सामाजिक और आध्यात्मिक नेताओं ने आत्मसिद्धि के साथ इस प्रवञ्चना को दूर करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। फलत: उनकी दृष्टि अन्तकृतदशांग पर जमी।

अन्तकृद्दशांग में उन साधकों की चर्चा की गई है जिन्होंने संसार-सागर को पार करने के लिए अथक प्रयत्न किया और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया। इस अंग में आठ वर्ग हैं और जिनमें ९० महान् साधकों का तपोमय जीवन वर्णित हुआ है। प्रथम वर्ग से पांचवें वर्ग तक में तीर्थङ्कर नेमिनाथ के युगीन साधकों का वर्णन है जैसे गौतम कुमार, गजसुकुमाल, जालि-मयाली, दृढ़नेमि, पद्मावती-सत्यभामा, रुक्मिणी, जांबवन्ती आदि और छठे अध्ययन से आठवें अध्ययन तक महावीरकालीन ३९ उग्र तपस्वियों के साधनामय जीवन को चित्रित किया गया है। उन तपस्वियों के कतिपय नाम हैं— गौतम, समुद्र, सगर, गम्भीर, स्तमित, अचल, कंपिल, अक्षोभ, प्रसेनजित, विष्णु, अक्षोभ, सागर, समुद्र, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र, अणीसेन, अनन्तसेन,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजितसेन, अनहितरिपु, देवसेन, शत्रुसेन, गजसुकुमार, सुमुख, दुर्मुख, कूपदारुक, दारुक, अनाधृष्टिकुमार, जालिकुमार, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, सत्यनेमि, दृष्टनेमि, पद्मावती, रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवन्ती, अर्जुनमाली, सुदर्शन, क्षेमक, धृतिधर, अत्तिमुक्तक, अलक्ष, नन्दा, नन्दवती, भद्रा, काली, महाकाली आदि। इन सभी साधक-साधिकाओं के धार्मिक जीवन के उदाहरण हमारे जीवन को पवित्र और मंगलमय बना देते हैं।

अन्तगडसूत्र में इन सभी महापुरुषों की साधना का वर्णन मिलता है। गौतमकुमार और गजसुकुमार की जीवनसाधना को हम उदाहरण के रूप में उल्लिखित कर रहे हैं।

गौतम कुमार की द्वारिका नगरी के राजा अंधकवृष्णि के पुत्र थे। प्रासादमयी सुख भोगते हुए एक दिन अरिष्टनेमि का प्रवचन सुना कि 'मा पडिबंध करेह' धर्म कार्य में विलम्ब मत करो, पड़े-पड़े समय व्यर्थ मत करो। बस, चिन्तन गहराया और माता-पिता की अनुमति लेकर जिनदीक्षा ग्रहण की। कठोर साधना की और भिक्षुप्रतिमा तथा संवत्सर तप करते हुए मोक्ष प्राप्त किया। यह सम्यक् तप की महिमा थी कि गौतम कुमार ने अष्टकर्मों का नाश कर अक्षय पद प्राप्त किया।

२. गजसुकुमार श्रीकृष्ण की माता देवकी का प्रिय पुत्र था। देवकी के पुत्रों को हरिणैगमेषी देव सुलसा के पास छोड़ आता था और सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास रख देता था। सात पुत्रों का यही हाल रहा। तब श्रीकृष्ण द्वारा सन्तान प्रदाता हरिणैगमेषी की आराधना करने पर गजसुकुमार को पुत्रवत् पालने का अवसर देवकी को मिला। पर वह भी समय आने पर जिनदीक्षा की ओर मुड़ गया। देहासक्ति से दूर परम वीतरागी गजसुकुमार श्मशान आदि जैसे स्थानों पर ध्यानमग्न होने लगा। एक दिन सोमिल ब्राह्मण ने बदला लेने के लिए श्मशान में ध्यानस्थ गजसुकुमार के शिर पर दहकते अंगार रख दिये जिसकी तीव्र वेदना को प्रशान्त भाव से सहते हुए मुनिराज ने निर्वाण प्राप्त किया।

अन्य साधकों की साधनामयी जीवनचर्या को समझने के लिए पाठक मूल ग्रन्थ को देखें।

सन्दर्भ

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पन्द्रहवाँ अध्याय; कल्पसूत्र, १७ सुबोधिका टीका।

२. *The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura*, p. 25.

३. श्रमण भगवान् महावीर, श्रमण, सितम्बर, १९७२, पृ० ६; और भी देखिए— चार तीर्थङ्कर—पं० सुखलाल जी, भगवान् महावीर — दलसुख मालवणिया,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगशास्त्र, द्वितीय श्लोक की वृत्ति।

४. कल्पसूत्र, १०९; महावीर चरियं, पृ० १३२; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०२, १५१।

५. जयधवला, भाग १, पृष्ठ ७८; तिलोयपण्णत्ति, ५, ६६७; उत्तरपुराण ७४, ३०३-४।

६. आचारांग, ९, २, १२।

७. वही, ९, १, ९.२०।

८. ठाणांगसूत्र, ९.३.२९६, वृत्ति पृष्ठ ५६१/१; कल्पसूत्र, प्रथम अध्याय, धवला में महावीर का केवलिकाल २९ वर्ष ५ माह और २० दिन लिखा है।

९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ३, २९-३१।

१०. वही, १०, ३, ३३।

११. नाप्रीतिमद्गृहे वासः स्थेयं प्रतिमया सह।
न गेहिविनयं कार्यो मौनं पाणो च भोजनम् ।।
— कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ २८८

१२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०.३, १३१-१३२।

१३. आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पृष्ठ २७५।

१४. वही, पृ० २७८-७९।

१५. वही, पृ० २८३।

१६. भगवती, शतक १५, १, ५४२।

१७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ३, ४५२।

१८. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २८६।

१९. वही, पृ० २८८।

२०. आचारांग, ९, ३, ४-५।

२१. सूरो संगामसीसे वा संबुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणे फरुसाइं अचले भगवं दीयित्सा।। — आचारांग, ९, ३, १३।

२२. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३.२०-१।

२३. कल्पसूत्र, ११६; आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३२२।

२४. नागो संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे। — आचारांग, ९-३-८।

२५. जयधवला, भाग १, पृ० ८०; तिलोयपण्णत्ति, ४.१७०१।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. विस्तार से देखिये, लेखक का ग्रन्थ— *Jainism in Buddhist Literature*, नागपुर, १९७२।

२७. षट्खण्डागम, भाग ९, पृष्ठ १२९।

२८. विशेषावश्यकभाष्य, १५४०-६०।

२९. वही, १६१०-१४।

३०. वही, १६५०-१६५४।

३१. वही, १६९०-१७६८।

३२. वही, १७७०-१८०९।

३३. वही, १८०३-१८६०।

३४. वही, १८६७-१८८३।

३५. वही, १८८८-१८९०।

३६. वही, १९०८-१९४७।

३७. उत्तरपुराण, ७४, ३७३-३७४।

३८. कल्पसूत्र, १३३-१४४; उत्तरपुराण ७४, ३७३-३७९, तिलोयपणत्ति ४.११६६-११७६; हरिवंशपुराण, ६०,५३२-४४०, यहाँ कहीं-कही श्रावकों की संख्या एक लाख और श्राविकाओं की संख्या तीन लाख भी बतायी गई है।

३९. कल्पसूत्र, १२६; उत्तरपुराण।

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४

क्रोध का अभाव ही क्षमा है

स्वानुभूति और धर्म

साधारण तौर पर यह देखा जाता है कि व्यक्ति जैसे ही मृत्यु की चिन्ता करता है, वह धर्माराधना की ओर अपना कदम बढ़ाने लगता है। मृत्यु से बचने के लिए हमने सुखाभासों में जीकर अनेक बफर बना लिये हैं और इस मिथ्या भ्रम से ग्रस्त हैं कि धन, सम्पत्ति और परिवार हमारा है। हमें उनसे कोई अलग नहीं कर सकता, पर यह सही नहीं है। ये सभी पर पदार्थ हैं और इन्हें छोड़कर एक दिन हमें इस लोक से जाना ही होगा। यह चिन्तन जितना गहरा होगा, धर्म की ओर हमारे कदम उतने ही पुख्ता होंगे।

व्यक्ति के धार्मिक होने में एक और भी कारण है — स्वानुभूति। स्व-पर का भेदविज्ञान स्वानुभूति का कारण होता है। साधक की इन्द्रियाँ, मन और चित्त या बुद्धि की स्थिति को परखकर उसकी अनुभूति की गहराई को समझा जा सकता है और अनुभूति की गहराई में ही धर्म उतरता है —

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।

तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः।। समाधितन्त्र, १६.

मनुष्य अनेक चित्त वाला है — "अनेक चित्तवान् खलु अयं पुरुषो।" एक ही व्यक्ति सुबह दयालु दिखाई देता है, दोपहर में परिग्रही बन जाता है और शाम को वह हिंसक बन जाता है। उसका यह स्वभाव गिरगिट के स्वभाव से भी दस कदम आगे प्रतीत होता है। इससे वह मूर्च्छावश संक्लेश परिणामों से ग्रस्त हो जाता है और जागरण रुक जाता है। स्वानुभूति तत्त्व इस जागरण और भेदविज्ञान को स्थिर कर देता है और व्यक्ति को सही धार्मिक बना देता है।

धर्म का उद्देश्य होता है — वर्तमान जीवन में सुधार लाना। इस उद्देश्य से धार्मिक धर्म के मर्म को समझता है और गुरु के पास जाकर दुःख-मुक्ति का उपाय पूछता है। गुरु कहता है — उपाय वह तभी बतायेगा जब शिष्य ऐसे व्यक्ति का अंगरखा ले आये जो सबसे अधिक सुखी हो। शिष्य जाता है, खोजता है, पर उसे पूर्ण सुखी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति कहीं नहीं मिलता। तब गुरु कहता है— दुःख से मुक्त होने का उपाय यह है कि दूसरे की ओर न झांका जाये और स्व-पर का चिन्तन किया जाये, यही स्वानुभूति की प्रतीति है।

यह बात सही है कि पर पदार्थ के साथ व्यवहार स्थापित किये बिना लोक-व्यवहार नहीं चलता। पर लोक-व्यवहार अहिंसा पर आधारित होना चाहिए। हम दूसरे के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते समय उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को अस्वीकार करने लगते हैं। हमारा चिन्तन वस्तुनिष्ठ बन जाता है, चेतननिष्ठ नहीं। यही कारण है कि ईमानदार गरीब लड़के की उपेक्षा की जाती है और किसी भी गलत या सही साधनों के माध्यम से कमाने वाले लड़के को महत्त्व दे दिया जाता है।

जीवन में इन विशृङ्खलताओं के कारण परिवार और समाज के बीच मनोमालिन्य बढ़ जाता है, क्रोध, ईर्ष्या आदि विकार भावों से मन उत्तेजित हो उठता है। इन भावों का मूल स्थान है डक्टलेस ग्लेण्ड्स। क्रोधादि आवेग सीधे रक्त में चले जाते हैं और उनसे बिटा तरंगें प्रभावित होती हैं जिससे अवसाद का जन्म होता है, परन्तु अल्फा तरंगों से व्यक्ति आनन्द से भर जाता है और ये अल्फा तरंगें सद्भावों से पनपती हैं। आचार्य स्थूलभद्र 'कोशा' नामक गणिका के घर चातुर्मास कर बेदाग वापिस लौटे इन्हीं अल्फा तरंगों के प्रभाव से। राकफेलर ने भी मूर्च्छा त्यागकर नया जीवन पाया। धर्म सद्भावों के माध्यम से अल्फा तरंगों को पैदाकर ऐसा ही नया जीवन प्रदान करता है।

क्षमा : अर्थ और प्रतिपत्ति

क्षमाधर्म ऐसे ही विधायक भावों के बीच पनपता है। क्रोध का कारण उपस्थित रहने पर जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता उसको यह क्षमा धर्म होता है। पूज्यपाद ने क्षमा के स्थान पर 'क्षान्ति' शब्द का प्रयोग किया है और उसे क्रोधादि से निवृत्ति रूप माना है (स०सि०६.१२)। सिद्धसेनगणि और अभयदेव ने भी क्षान्ति की यही व्याख्या की है।

आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी (उमास्वाति), कार्तिकेय जैसे आचार्यों ने 'क्षमा' शब्द का प्रयोग किया है और उसे 'क्षान्ति' का समानार्थक माना है। पर सिद्धसेनगणि ने क्षमा और क्षान्ति में कुछ अन्तर किया है। उन्होंने क्रोध निवृत्ति को 'क्षान्ति' कहा है और सहन करने को 'क्षमा' कहा है। आवश्यकचूर्णि में क्षमा, तितिक्षा और क्रोधनिरोध को समानार्थक माना गया है। तद्नुसार आक्रोश, ताडन आदि को सहन करना, क्रोधोदय का निग्रह करना और उदय में आये हुए क्रोध को विफल करना क्षमा है। क्षमा के इन सब लक्षणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उन सबमें क्षमा की व्याख्या ही देखी जा सकती है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमा की उपमा पृथ्वी से दी जाती है। पृथ्वी को आप खोदिये, रौंदिये, वह उफ् तक नहीं करती। इतने पर भी वह कुछ न कुछ देती ही रहती है। इसलिए उसे 'सर्वरसा' भी कहा जाता है।

क्रोध : कारण और प्रतिफल

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्रोध उसका विभाव है। क्रोध अविचारपूर्वक स्व और पर को दुःख देने वाली एक प्रवृत्ति है। मोहनीय-कर्म के उदय से यह द्वेषरूप क्रूरता भरा परिणाम उत्पन्न होता है। चूँकि क्रोधादि विभाव आत्मा का विघात करते हैं इसलिए उन्हें 'कषाय' की संज्ञा दी जाती है। इस क्रोध को अग्नि के समान कहा गया है, जिसमें सब कुछ भस्म हो जाता है। पित्त-प्रधान व्यक्ति में क्रोध की मात्रा सर्वाधिक देखी गई है।

क्रोध से ही वैर, आक्रमण, प्रत्याक्रमण होते हैं। इसका स्थायित्व अधिक होता है। आचार्यों ने स्थायित्व की दृष्टि से क्रोध की चार श्रेणियाँ मानी हैं — पत्थर की रेखा के समान, भूमि पर खींची रेखा के समान, बालू पर खींची रेखा के समान और जल पर खींची रेखा के समान। ये रेखायें जिस प्रकार क्रमशः कमजोर होती चली जाती है, उसी प्रकार क्रोध की श्रेणियाँ भी स्थायित्व की दृष्टि से क्रमशः हीन होती जाती हैं। इनकी परिणति क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में होती है। इसके अनुसार नारकियों में क्रोध सर्वाधिक होता है।

व्यक्ति में क्षमा सम्यग्दर्शन के पालन करने से आती है और वैभाविक क्रोध का जन्म मिथ्या दर्शन से होता है। मिथ्या-दर्शन के कारण ही व्यक्ति कर्तृत्वबुद्धि से पर पदार्थों में राग करता है, आसक्ति करता है फलतः उनके संरक्षण करने में क्रोध की स्वभावतः उत्पत्ति हो जाती है। वही क्रोध जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख का कारण बन जाता है।

उत्तम क्षमावान् होने की स्थिति तक पहुँचना बहुत बड़ी कठिन साधना का काम है। चित्त की विशुद्ध अवस्था उसके लिए अत्यावश्यक है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती से लेकर नौवें-दशवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती को उत्तम क्षमा होती है। पर नौवें ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी को उत्तम क्षमा नहीं होती।

उत्तम क्षमावान् होने के लिए क्रोध पर विजय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इसलिए क्रोध की उत्पत्ति के कारण, उसका निदान और उसके उदाहरणों की ओर दृष्टिपात करना जरूरी हो जाता है।

क्रोध की उत्पत्ति अहङ्कार और तृष्णा से होती है। इन दोनों के होने पर दूसरे का अपमान किया जाता है और दूसरे का अपमान करने के लिए व्यक्ति को पहले स्वयं

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे गिरना पड़ता है। उसे कोई होश ही नहीं रहता कि वह क्रोध क्यों करता है? क्रोध और क्रोधी दोनों अलग-अलग हैं। क्रोधी पहले स्वयं को दुःखी करता है और बाद में दूसरे को। असन्तोष, असफलता, अभाव, प्रतिकूलता, कल्पित व्यवहार आदि और भी अनेक कारण हैं जिनसे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध के भयङ्कर रूप को समझा जा सकता है उन कथाओं के माध्यम से जहाँ कहा गया है कि सोमिल ब्राह्मण ने गज सुकुमाल मुनि के सिर पर अंगार रखा था और चण्डकौशिक सर्प के जीव ने महावीर को काटा था।

क्रोध हमको कुछ देता नहीं, बल्कि हमसे कुछ छीन लेता है। जितने भी विकार भाव हैं। वे हमें थकाने वाले होते हैं। उनके आने पर हम थकान का अनुभव करते हैं, पर करुणादि भाव से व्यक्ति थकता नहीं, बल्कि प्रसन्नता का अनुभव करता है।

कहा जाता है— क्रोध में होश होना चाहिए। पर साधारणतः क्रोध में होश चला जाता है। होना यह चाहिए कि जब क्रोध चरम स्थिति पर हो, तब रुक जाना चाहिए। खलीफा अली युद्ध के मैदान पर लड़ रहा था। शत्रु को उसने नीचे गिरा दिया और उस पर जैसे ही भाला चलाने वाला था कि शत्रु ने उस पर थूक दिया। उसने थूक को पोंछा और कहा कि अब उठो, कल लड़ेंगे। शत्रु ने कहा — क्यों ? अली का उत्तर था — मुहम्मद की आज्ञा है — अगर हिंसा भी करो तो क्रोध में नहीं करना। तुमने थूककर मुझमें क्रोध की अग्नि भभका दी। ऐसी स्थिति में मैं हिंसा नहीं कर सकता।

क्रोध टिकाऊ न हो। ऐसा न हो कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहे। एक मुकदमा शुरु करे और वह चार पीढ़ी तक भी समाप्त न हो। क्रोध हो भी तो उसकी केतली का ढक्कन खुला रहे, बन्द न हो ताकि उबाल न आ सके। अनन्तानुबन्धी क्रोध दुःख के महासागर में गिरने का कारण बनता है।

क्रोध को दूर करने के उपाय

क्रोध बेहोशी में ही होता है। होश रहते क्रोध हो ही नहीं सकता। क्रोधरूपी महाशत्रु से मुक्त होने के लिए विद्वानों द्वारा कुछ मार्ग इस प्रकार सुझाये गये हैं —

(१) आत्मपरीक्षण, उपवास, कायोत्सर्ग, प्रतिसंलीनता और त्रिगुप्ति परिपालन से व्यक्ति सम्भल जाता है, आत्मचिन्तन होने से क्रोध की प्रकृति समझ में आ जाती है और आत्मपरीक्षण हो जाता है।

(२) दूसरे की भूलों का स्मरण मत करो। ईसामसीह ने कहा था — पड़ोसी से मनमुटाव हो जाये और उसका स्मरण हो जाये, तो देव मन्दिर से भी वापिस आकर उससे क्षमा माँगो। बृहत्कल्पसूत्र में श्रमण से क्षमा याचना के बाद ही आहारचर्या करने का निर्देश दिया गया है, जिससे दूसरों की भूलों का विस्मरण

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर क्रोध से मुक्त हुआ जा सके।

(३) चित्त-निरोध — अतीत और भविष्य से हटकर वर्तमान में रहना और मन को एकाग्र कर उसे प्रशान्त करना। ज़ेन फ़कीर को किसी ने लाठी मार दी तो उसने कहा — समस्या मारने वाले की है उसकी नहीं है। यह कथन उसी तरह से है जिस तरह बुद्ध ने कहा कि वे गाली को स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि गाली से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) अलेक्जेण्डर ने कहा — क्रोध आने पर टेबुल के नीचे हाथ बांधकर उन्हें पांच बार खोलो। इसी तरह गुर्जियेफ के पिता ने अपने पुत्र से कहा कि जब क्रोध आये तो उसे रोककर चौबीस घण्टे बाद करने का मन बनाओ। सम्भव है, इस बीच क्रोध स्वत: शान्त हो जाये।

(५) दर्पण में क्रोध की मुद्रायें देखकर उन पर विचार करो। रोना भी क्रोध न आने देने का एक उपाय है। कहा जाता है महिलाओं को दिल का दौड़ा कम आता है; क्योंकि वे रोकर अपना क्रोध और दुःख अभिव्यक्त कर देती हैं।

(६) क्रोध को कल पर टाल दो। अब्राहम लिंकन ने कहा है कि क्रोध भरे पत्र का उत्तर सात दिन बाद देना चाहिए। तब तक क्रोध शान्त हो सकता है और पत्र की भाषा भी नरम हो सकती है।

(७) समता भाव धारण कर निन्दा और प्रशंसा में तटस्थ रहना चाहिए। बुद्ध ने ठीक ही कहा है — जागकर क्रोध करो, जाग कर देखो कि क्रोध उठता कैसे है?

(८) क्रोध आते ही मुंह में मिश्री का पानी भर लो।

(९) क्रोध आने पर कागज पर बार-बार लिखो — क्रोध आ रहा है। दीर्घ श्वास लेने से भी क्रोध की मात्रा कम हो जाती है।

(१०) संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करना आदि।

क्षमा के उदाहरण

कतिपय ऐसे साधन भी हैं, जिनसे क्रोध की मात्रा कम की जा सकती है और उनके आने पर उनसे मुक्त भी हुआ जा सकता है। क्रोध से मुक्त होने पर क्षमा भाव का आ जाना स्वाभाविक है। क्षमा राग-द्वेष से मुक्त अवस्था का नाम है इसी को 'स्थितप्रज्ञ' भी कहते हैं। ऐसे ही स्थितप्रज्ञ महापुरुष उत्तम क्षमावान् होते हैं। ऐसे उत्तम क्षमावानों के कुछ उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) समर्थ व्यक्ति ही क्षमादान कर सकता है। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कठोर वचन कहने पर क्षमा मांगी। उदायन ने चण्डप्रद्योत से क्षमा मांगी, जबकि उदायन विजेता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था और चण्डप्रद्योत पराजित सम्राट्। इसीलिए 'क्षमावीरस्य भूषणम्' कहा गया है।

(२) पुरुषोत्तम राम ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने पर भी रावण को नहीं मारा, यह राम की उत्तम क्षमा थी।

(३) पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को उसके आक्रमण करने पर सत्रह बार हराया और क्षमा किया।

(४) द्रोणाचार्य का पाठ युधिष्ठिर ने अपने मन में व्यावहारिक रूप से सही ढंग से उतारा।

(५) पं० गोपालदास वरैया पर उनकी पत्नी का बरसता हुआ क्रोध प्रसिद्ध है।

(६) महाकवि बनारसीदास ने रास्ते में पेशाब की। इस पर पहरेदार ने उन्हें दण्डित किया। राजा के सामने पहरेदार के पहुंचने पर बनारसीदास ने उसे पुरस्कार दिलाया और उसके कर्तव्य की भरपूर प्रशंसा की।

(७) राजा उदायन ने अवन्तीपति चण्डप्रद्योत को क्षमाकर ससम्मान उसका राज्य वापस किया।

(८) केवली नागदत्त ने क्रोध के कारण ही अपने श्रमण पर्याय की विराधना कर नागयोनि में जन्म लिया और क्रोध के शान्त होने पर मनुष्य भव प्राप्त कर, क्षमा की आराधना से मुक्ति प्राप्त की।

ये सभी उदाहरण यह व्यक्त करते हैं कि क्रोध-निग्रह से क्षमा या क्षान्ति का आविर्भाव होता है। तत्वार्थराजवार्तिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में क्षान्ति की यही व्याख्या की गई है। उत्तम क्षमा का यही रूप है जिसकी हम इस महापर्व में आराधना करते हैं। क्रोधादि विकार भाव असत् हैं, झूठे हैं, क्षमा आदि भाव सत् हैं, सत्य हैं। उनको भलीभाँति हमें धारण करना चाहिए।

क्षमा भाव के विस्तार से साधक करुणाशील हो जाता है। उसका मन क्रोधी के प्रति दयाद्र हो जाता है। सोचता है क्रोधी के अविवेक पर, प्रमाद पर। उसकी गालियों पर वह कोई ध्यान नहीं देता, प्रतिक्रिया नहीं करता बल्कि हंस देता है। साधक द्वारा कोई प्रतिक्रिया न करना क्रोधी सहन नहीं कर पाता; क्योंकि क्रोधी परतन्त्र है, उसका क्रोध निमित्त पर, पर पर आधारित है, परन्तु उत्तम क्षमाशील साधक स्वतन्त्र है, उसका पर समाप्त हो गया है। उसके साथ प्रसन्नता है, आनन्द है जिसके लिए दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती, करुणा है जो सदैव ज्योति के समान निरपेक्ष होकर बहती रहती है। कषाय से भी वह मुक्त हो गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

- कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादे।
  ण कुणादि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।। — बा०अनु० ७१. भा०पा० १०७; का०अनु० ३९४; चा०सा०, पृ० ५९.
- शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञा-ताडनशरीरव्यापादनादीनां संनिधाने कालुष्यानुत्पत्ति क्षमा। स०सि० ९.६, पृ० ४५२; रा०वा० ९.६.२, पृ० ५९५; चा०सा०, पृ० ५९.
- मित्ती मे सव्वभूयेसु वेरं मज्झं न केणइ
- नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
  स्वपक्षसेवाश्रयणे न मुक्तिः कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।।
- क्षमा क्रोधनिग्रहः - आ०हरि०वृ० ४, पृ० ६६०.
- क्षमागुणांश्चानायासादीननुस्मृत्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः - त०भा० ९.६. पृ० १९१.
- क्रोधोत्पत्तिनिमित्तविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा— तत्त्वार्थवार्तिक, ९.६.२.
- तत्थ खमा आकुट्ठस्स वा तालियस्स वा अहियासेंतस्स कम्मक्खओ भवइ, अणहियासिंतस्स कम्मबंधो भवइ, तम्हा कोहस्स निग्गहो कायव्वो, उदयपत्तस्स व विफलीकरणं, एस खमन्ति वा तितिक्खत्ति वा कोहनिग्गहेत्ति वा एगट्ठा— दशवैकालिकचूर्णि, पृ० १८.
- क्रोधस्यानुत्पाद उत्पन्नस्य वा विफलीकरणं— योगशास्त्र स्वो०विव० ३.१६.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५

जीवन की सरलता ही मृदुता है

उत्तम क्षमाधर्म यदि जीवन में आ जाये तो उत्तम मार्दव-धर्म स्वत: आ जाता है। क्रोध की उत्पत्ति अहङ्कार पर चोट लगने से होती है। अहङ्कार यदि समाप्त हो जाये तो मृदुता, सरलता और विनय अपने आप आ जाती हैं। इसलिए मार्दव का प्रतिपक्षी मान है और उसके विगलित हो जाने पर विनय गुण का आविर्भाव होता है।

मूल्याङ्कन का पैमाना हर एक का अलग-अलग होता है। यह पैमाना उसके संस्कारों और भावों पर निर्भर करता है। उनसे ही उसकी पसन्दगी का पता चल जाता है। धर्म की ओर कदम बढ़ाने के लिए और उस पर स्थिर रहने के लिए भी वैसे ही संस्कारों की अपेक्षा होती है। साधना में रचा-पचा व्यक्ति ऐसे संस्कार देने में सक्षम होता है। वह साधना नये आयाम खोलती है और रूपान्तरण की प्रक्रिया को जन्म देती है। वह अहं से अर्हं बना देती है और अन्तर से स्फुटित होकर जीवन का कायाकल्प कर देती है। विजातीय तत्त्व के अलग होने पर ही प्रस्तर प्रतिमा का रूप लेता है। ज्ञेय, हेय और उपादेय को जान लेने पर ही 'कोऽहं' का उत्तर मिल पाता है। तभी मान लेप की भांति झरने लगता है।

संकल्प और जागरण

किसी भी काम को पूरा करने में चार चरणों को पार करना पड़ता है — इच्छा, आकांक्षा, संकल्प और भावना। भरत ने बाहुबली से युद्ध करने का निश्चय इसी क्रम से किया और अन्त में इच्छा को विजयी बनाया। मान जैसे राक्षस से मुक्त होने के लिए भी इसी क्रम को अपनाना पड़ेगा और इस महापथ पर चलते-चलते भयानक मानसिक संघर्षों से भी लोहा लेना पड़ेगा।

अन्धकार से भरे जीवन में जागरण एक अमूल्य औषधि के रूप में आता है और मान का दुष्परिणाम एक नया अनुभव दे जाता है, जिससे आस्था का निर्माण होता है। संकल्प का जागरण भी तभी हो पाता है। वैद्यराजों द्वारा अनेक प्रयत्न करने के बावजूद सिरदर्द दूर न होने पर, क्रोधित होकर राजा भोज ने आयुर्वेद के ग्रन्थों की आहुति दे दी। लेकिन जीवक ने उसके सिर में से मछली निकालकर जब दर्द दूर कर दिया तो उसके मन में आयुर्वेद के प्रति पुन: आस्था जाग गई। अत: किसी कार्य की

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपत्ति होने के लिए आस्था का निर्माण अत्यावश्यक हो जाता है। मृदुता लाने के लिए साधक में इसी आस्था, पुरुषार्थ और आत्मनिरीक्षण की जरूरत होती है।

मार्दव का अर्थ

मार्दव-धर्म का विरोधी भाव मान है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील में से किसी पर भी अभिमान नहीं करना मार्दव धर्म है —

कुल-रूव-जादि-बुद्धिस्क, तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि।

जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मो हवे तस्स।। (बा०अ०७२)

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार (१.२५) में ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु इन आठ मदों से विरहित को मार्दव माना है। उमास्वामी ने कुल, रूप, जाति और श्रुत के बाद ऐश्वर्य, विज्ञान, लाभ और वीर्य को गिनाकर दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा को निग्रह करने को मार्दव धर्म माना है। चारित्रसार (पृ० २८) में भी लगभग यही बात कही गयी है। अकलंक ने इसमें यह और जोड़ दिया कि दूसरे के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान का अभाव होना मार्दव-धर्म है (त०वा०, ९.६)। आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि (पृ० १८), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३९५) आदि ग्रन्थों में भी मार्दव धर्म का वर्णन लगभग इसी प्रकार मिलता है।

स्थानाङ्ग में आये लाघव धर्म (१०.१६) को किसी सीमा तक मार्दव में सम्मिलित किया जा सकता है। यद्यपि लाघव का अर्थ उपकरण की अल्पता है पर वहाँ ऋद्धि, रस और सात (सुख) इन तीन गौरवों का जो त्याग बताया गया है (प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति पत्र १३५) वह त्याग मार्दव की सीमा में आ जाता है। गौरव का अर्थ यहाँ अभिमान है।

आत्मा का स्वभाव

मार्दव-धर्म आत्मा का स्वभाव है और उसका विरोधी भाव मान उसका विभाव है। मान-सम्मान की आकांक्षा के पीछे अहङ्कार का भाव रहता है। वह न मिलने पर अहङ्कारी दुःख और अपमान का अनुभव करता है और दूसरे का अपमान कर उसका बदला लेता है। उसके अहङ्कार की तृप्ति समाज में पहुंचकर होती है। वह समाज नैतिक होगा या धार्मिक होगा; पर उसकी नैतिकता और धार्मिकता के पीछे अहङ्कारी का अहङ्कार तृप्त हुए बिना नहीं रहेगा।

समाज धार्मिक कम होता है, नैतिक अधिक होता है। नीति का लबादा ओढ़े वह कर्तव्य की बात करता है। व्यक्ति माता-पिता की सेवा तो नहीं करना चाहता पर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज अंगुलि न उठाये इसलिए कर्तव्य मानकर वह सेवा करता है। ऐसी सेवावृत्ति में उसे आनन्द नहीं आता; क्योंकि वह सेवा भीतर से नहीं होती, उसे वह धर्म नहीं मानता। अतः धर्म और नीति दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। विवेक इन सभी के ऊपर है। सारी बीमारियां और बुराइयां विवेकहीनता में होती हैं। विवेक उस बेहोशी को और अहङ्कार को दूर कर देता है। यही विवेक सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान में शुष्क बुद्धि काम नहीं करती, जागरण काम करता है जिसे आत्मा का स्वभाव कहा जा सकता है।

अहङ्कार : प्रकृति और परिणाम

अहङ्कार शक्ति की खोज में रहता है, धर्म की खोज में नहीं। शक्ति की खोज में सतत् घूमने वाले नेपोलियन, हिटलर जैसे लोग भी अन्त में हाथ खोलकर चल बसे। उनकी यात्रा शक्ति की यात्रा थी, पर धर्म की यात्रा अन्तर की यात्रा है। शक्ति की यात्रा में अहङ्कार फूलता-फलता रहता है, वहाँ न सत्य की खोज हो पाती है और न तपस्या ही पूरी हो पाती है। वह तो दूसरे में दोष देखता है और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, निन्दा में रस लेता है और प्रशंसा में पीड़ा का अनुभव करता है। पर्वत पर खड़े व्यक्ति को नीचे खड़ा व्यक्ति छोटा ही दिखता है।

अहङ्कार जैसा भ्रम और अज्ञान दूसरा नहीं होता। बीज के चारों तरफ अहङ्कार की खोल लगी है जिससे बीज पनप नहीं पाता। स्वाभिमान की सीमा में अहङ्कार ठीक कहा जा सकता है पर उससे आगे बढ़कर अभिमान को प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। मृत्यु के पूर्व वह निश्चित रूप से टूटना चाहिए।

मात्र जिज्ञासु रहना अहङ्कारिता को बढ़ावा देना है। उसमें जब तक मुमुक्षुवृत्ति जाग्रत नहीं होगी रूपान्तरित होने की स्थिति में वह नहीं आ सकता। साधक के लिए जिज्ञासु के साथ-साथ मुमुक्षु भी होना चाहिए। जिज्ञासा एक दर्शन है, मुमुक्षा एक धर्म है। जिज्ञासा से अहङ्कार मजबूत होता है और मुमुक्षा से वह अहङ्कार पिघलता है। मुमुक्षु आत्म-ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान् करता है और आचरण से कर्मों के आवरण को दूर करता है।

अहङ्कारी लोकेषणा के पीछे दौड़ता रहता है, मान का पोषण करता है और दूसरे को काटने में आनन्द लेता है। शेषनाग में मान नहीं होता पर बिच्छू स्वल्प जहर होने पर भी अहंकारवश डंक ऊपर उठाये घूमता रहता है। वह घनघोर हिंसक भी होता है। उसमें प्रतिक्रिया और प्रतिशोध की आग सुलगती रहती है। उसकी मानसिकता कठोरता में जीती रहती है। उसकी यह कठोरता कभी शैल के समान रहती है, कभी अस्थि जैसी रहती है, कभी काष्ठ के समान होती है तो कभी लता जैसी भी दिखती है। यह उसकी कठोरता का क्रम है। इस कठोरता को अहङ्कारी जीवित रखना चाहता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। क्रोधी क्रोध निमित्तक पदार्थ को नष्ट करना चाहता है, पर मानी उसे सम्भाल कर रखना चाहता है।

अहङ्कार से मुक्त होने के उपाय

इस आत्मघाती अहङ्कार को समाप्त करने के लिए धर्म ही एक सच्चा शरण है। क्षान्ति, मृदुता, ऋजुता और आत्मालोचन उसके द्वार हैं। देहादि में एकत्व बुद्धि छोड़कर, तोड़कर समता भरा आचरण उसका एक सुनियोजित महापथ है, जिस पर चलकर व्यक्ति अहङ्कार से मुक्त हो सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार (पञ्च परमेष्ठी वंदन) रूप विनय का आचरण उसे रूपान्तरित कर सकता है।

अहङ्कार से ग्रस्त व्यक्ति किसी को गुरु मानने के लिए तैयार नहीं होता, जिससे न वह कुछ विशेष सीख पाता है और न उसमें विनय ही जाग्रत हो पाता है। शिष्य भाव के बिना सीखना सम्भव नहीं होता। **गुरजियेफ** ने अपने शिष्य **आस्पस्कीं** को एक कोरा कागज लिखने के लिए दिया परीक्षा करने की दृष्टि से, पर उसने उसे कोरा ही वापिस कर दिया। अहङ्कार का विसर्जन और ज्ञानार्जन की आकांक्षा कागज को वापिस करने के पीछे एक दृष्टि थी।

मार्दव-धर्म का परिपालन करने के लिए कषायों पर विजय प्राप्त करना जरुरी हो जाता है। शान्तिनाथ नाम हो और वह व्यक्ति घनघोर अशान्त और क्रोधी प्रकृति का हो तो नाम के साथ सामञ्जस्य कैसे हो सकता हैं? अत: कषायों के परिणाम पर चिन्तन करते हुए मृदुता लानी चाहिए।

बिना भेदभाव के आदर देना विनय कहलाता है। जीसस ने जुदास को सम्मान दिया, जबकि वह शत्रुओं से मिला हुआ था। महावीर ने गोशालक को सम्मान दिया, जबकि गोशालक महावीर का घोर विरोधी था। विरोधियों के साथ भी मित्रवत् व्यवहार करना आर्जव-धर्म है।

मान उबलता दूध जैसा है जिसे ठण्डा होने पर ही पिया जा सकता है। उसे या तो चूल्हे से उतार कर नीचे रख दीजिए या ईंधन को बुझा दीजिए। इसी तरह मान के कारणों को दूर कर आत्मचिन्तन किया जाना चाहिए।

मान को जीतने का एक यह भी उपाय है कि साधक माध्यस्थ वृत्ति धारण कर विपरीत परिस्थितियों में मौन हो जाये। द्वीपायन ऋषि एक अच्छे साधक थे। वे जहां तपस्या कर रहे थे, वहाँ यादव लोग शराब पीकर मस्ती कर रहे थे। उन्होंने द्वीपायन को भला-बुरा कहा। साधक के कान में ये शब्द पहुँचे, जिसे वे सहन नहीं कर पाये और अपनी उग्र तपस्या के बल पर द्वीपायन ने द्वारिका जला कर राख कर दी। यदि उन्होंने अपशब्दों की उपेक्षा की होती तो इतना बड़ा हादसा नहीं होता।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृदुता के उदाहरण

मार्दव-धर्म के सन्दर्भ में अनेक उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं, जिनमें कतिपय उद्धृत कर रहा हूँ ताकि उसकी प्रकृति को समझा जा सके और अहङ्कार के दुष्परिणामों से बचा जा सके।

(१) सुदर्शन ने अर्जुनमाली को विनम्रता से जीता।

(२) वर्णीजी ने आत्मकथा में एक घटना का उल्लेख किया है कि किसी सेठ ने स्वयं मन्दिर बनवाया पर उसका कलश समाज से चढ़वाया ताकि मन्दिर बनवाने का अभिमान उसे या उसके परिवार को न आ जाये।

(३) अहङ्कार एक प्रतिक्रिया से भरा जीवन होता है। असमर्थ व्यक्ति घर बनाता है और समर्थ बलशाली व्यक्ति उस घर को तोड़ देता है — **असमर्थो गृहारम्भे समर्थो गृहभंजने।** बन्दर बटेर का घोंसला उखाड़कर यही करता है।

(४) भरत-बाहुबली का युद्ध मान कषाय का जीता जागता उदाहरण है। कहा जाता है कि भरत पट्टशिला पर लिखे हुए किसी नाम को मिटाकर ही अपना नाम लिख सके। अहङ्कारी यही करता है। वह दूसरे के अस्तित्व को मटियामेट कर अपने अस्तित्व पर मुहर लगाना चाहता है।

(५) अहङ्कारी जब शक्तिहीन हो जाता है तो उसे कोई नहीं पूछता। नेपोलियन जैसे सम्राट् को आखिर घसियारन के लिए रास्ता देना ही पड़ा।

(६) ज्ञानी और बौद्धिक में अन्तर है। प्राचीन काल में ज्ञानी को पण्डित भी कहा जाता था, जो स्वानुभूति और सम्यक् आचरण में पला था। पर आज बौद्धिक व्यक्ति ही पण्डित कहा जाता है। वह इतनी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न होता है कि विनम्रतापूर्वक अपने अज्ञान को स्वीकार लेता है, ध्यानी होता है, जागरूक होता है। भगवान् महावीर परमज्ञानी थे। उन्होंने इन्द्रभूति के अहं को बड़े ही सहज ढंग से निरस्त किया और उसे अपना अनन्य शिष्य बना लिया। विद्वान् ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता, बल्कि उससे सीख सकता है। उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा आनन्दघन को प्रणाम करना यही अभिव्यक्त करता है।

(७) देवी ने सुकरात को सबसे बड़ा ज्ञानी माना पर सुकरात ने इसे स्वीकार नहीं किया, बल्कि यह कहा कि उसे मालूम है वह कितना अज्ञानी है। ज्ञानी को अज्ञानता का आभास हो जाना चाहिए। यही उसकी निरहङ्कारवृत्ति और मार्दवता है।

(८) बोलने में इतना माधुर्य हो कि श्रोता को कटुता का आभास न हो। **'अक्ष्णा काणः'** कहकर व्यंग बाण नहीं चलाना चाहिए। **''शुष्को वृक्षः तिष्ठत्यग्रे''** उदाहरण के सन्दर्भ में लोग जानते ही हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मार्दव, धर्म आत्मा की वह सरलता और मृदुता है, जिसमें किसी भी प्रकार का अहङ्कार न हो। आत्मसाधना ही उसका जीवन हो और आलोचना और प्रायश्चित्त से उसका मन-मार्जन हो रहा हो। साम्यभाव, परमार्थ का पुरुषार्थ, मोह-राग-द्वेष से विमुक्ति आदि गुण विनम्रता को जन्म देते हैं, यही मार्दव है।

सन्दर्भ

- कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
  जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।। बा०अणु० ७२; स०सि० ९.६, पृ० ४१२; रा०वा० ९-६.३, पृ० ५९५; चा०सा०, पृ० ६१.
- उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
  अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयणं भवे तस्स।। — का०अनु०, ३९५; भ०आ०, १४२७-१४३०.
- जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। स०सि०, ९.६.
- मार्दवं मानोदयनिरोधः । औप०अभय०वृ० १६, पृ० ३३.
- मद्दवं नाम जाइकुलादीहीणस्स अपरिभयसीलत्तणं .... माणस्स उदिन्नस्स निरोहो उदयपत्तस्स विफलीकरणं । दशवै०चू०, पृ० १८.
- नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम्। मृदुभावो मुदुकर्म वा मार्दवम्, माननिग्रहो मानविघातश्चेत्यर्थः। तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति। तद्यथा— जातिः कुलं रूपं, ऐश्वर्यं, विज्ञानं श्रुतं लाभः वीर्यम् इति— तत्त्वार्थभाष्य, ९.६.
- मृदुः अस्तब्धस्तस्य भावः कर्म वा मार्दवम्, नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकश्च — योगशास्त्र स्वो० विव० ४.९३, धर्मसं०मान० ३.४५.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६

जीवन की निष्कपटता ही ऋजुता है

अर्थ और स्वरूप

उत्तम आर्जव का तात्पर्य है आत्मा के ज्ञायक स्वरूप में कपट का भाव उत्पन्न न होने देना। उसमें पूरी सरलता, ऋजुता आ जाना। मृदुता आ जाने के बाद यह ऋजुता आती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्वादशानुप्रेक्षा में कुटिल भाव को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करने को आर्जव कहा है। उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंक, अभयदेवसूरि, सिद्धसेनसूरि आदि आचार्यों ने इसी परिभाषा को स्वीकार किया है। इन सभी परिभाषाओं के समग्र चिन्तन से यह तथ्य निकलता है कि मन, वचन, काय में किसी भी प्रकार की वक्रता न होना और आचरण शुद्ध होना ही ऋजुता है। इसी को तत्त्वार्थवार्तिक में **''योगस्यावक्रता आर्जवम्''** कहा है।

आर्जव का सम्बन्ध विशुद्ध धर्म से है। धर्म प्रतिस्रोत का मार्ग है, एकान्त साधना का मार्ग है। भीड़ में उसका पालन नहीं किया जा सकता। आत्मनिरीक्षण के साथ ही मन में ऋजुता आ जाती है। **''सोइ उज्जुयभूयस्स''** अर्थात् शुद्धि उसी की होती है, जो ऋजु-सरल होता है। शुद्ध धर्म का पालन व्यक्ति को इतना सरल बना देता है, जितना छोटा बच्चा होता है। इस सरलता के मानदण्ड अपने-अपने हो सकते हैं पर उसे सभी चिन्तक वक्रता के अभाव में देखते हैं।

माया और प्रतिक्रिया

पदार्थ के प्रति आसक्ति ही कपट की जननी है। इसलिए उस आसक्ति को कम करने के लिए आचार्यों ने धर्मोपदेश दिया है। संसारी व्यक्ति को आसक्ति से ही भय उत्पन्न होता है। एक आसक्ति से दूसरी आसक्ति उठ खड़ी होती है और कोई भी आसक्ति सन्तुष्ट नहीं हो पाती। राजस्थानी कहावत है — चोर ने तूंबे चुराये। नाले में उनको डुबोना चाहा पर वह एक डुबोता तो दूसरा ऊपर आ जाता, यही स्थिति आसक्ति की होती है। आसक्ति के सन्तुष्ट न होने पर व्यक्ति मायावी हो जाता है और उसकी कथनी-करनी में अन्तर आ जाता है।

कपट भाव से मानसिक तनाव बढ़ता है और प्रतिक्रिया जन्म लेती है। प्रतिक्रिया से ही झूठ, चोरी, हिंसा, कपट आदि दुर्गुण आ जाते हैं और संघर्ष शुरू हो जाता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। संवेदन जितना तीव्र होगा प्रतिक्रिया उतनी ही गहरी होगी। यह गहराई तब तक कम नहीं होगी जब तक भीतरी जागरण नहीं होगा। भीतरी जागरण से ही संन्यासी को स्वर्ण से वितृष्णा होती है और वह झोपड़ी में रहता है, जबकि राजा या गृहस्थ उससे राग करता है और प्रासाद में रहता है।

हमारी चेतना चार स्तरों से गुजरती है — इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अनुभव। अनुभव की सघनता ऋजुता को पैदा करती है, जिससे व्यक्ति अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार हो जाता है। इसके लिए उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा, पैनी अन्तर्दृष्टि और सबल मनोबल अधिक काम करता है। कपट भाव की बुराइयों को समझकर व्यक्ति मायावी स्वभाव से मुक्त होने का मन कर लेता है भले ही वह वंशानुगत क्यों न हो।

मायावी स्वभाववाला तिर्यञ्चों में पैदा होता है और वह स्वभाव वंशानुगत होता है। वहां विवेकहीनता रहती है। मानव में वह वंशानुगत नहीं होता। उसमें तो विवेक-शक्ति का उपयोग न कर पाने के कारण वह छल-कपट किया करता है। इस छल-कपट या वक्रता को अधिकता के क्रम से चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है — बांस की जड़, मेढे के सींग, गोमूत्र और खुरपी। इसी तरह ऋजुता को चौभंगी द्वारा समझाया जा सकता है — सरल, सरलवक्र, वक्रसरल और वक्रवक्र।

प्रकृति और प्रभाव

स्वच्छ जल में जिस तरह कंकड़ डालने या फेंकने से जो चञ्चलता निर्मित होती है, उसमें अपनी प्रतिकृति नहीं देखी जा सकती, उसी तरह मायावी स्वभाव वाला व्यक्ति स्वयं को नहीं देख पाता। उसमें मायाचारी, धोखाधड़ी, आशंका, भय, अविश्वास, पैशून्य, झूठ बोलना आदि की असत् प्रवृत्तियाँ स्वयमेव आ जाती हैं। उसकी ये प्रवृत्तियाँ अनार के दाने की तरह अन्दर भरी रहती हैं।

किसी संस्कृत कवि ने बड़ा अच्छा कहा है — **''सन्धत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी''**। इसका तात्पर्य है कि सुई सरल और सीधी होती है। इसलिए वह टुकड़ों को जोड़ती है, एक करती है, परन्तु कैंची वक्र अर्थात् टेढ़ी होती है, इसलिए वह काटने का काम, अलग करने का काम करती है। इसी तरह सरल स्वभावी दो मनों को जोड़ता है, परस्पर प्रेम भाव स्थापित करता है, पर कुटिल स्वभावी व्यक्ति दो मनों को अलग-अलग कर देता है।

कपटी मनुष्य का मन निर्मल नहीं होता। उसके अन्दर प्रकाशपुञ्ज हो ही नहीं सकता। हमारे स्वभाव में सरलता होने से हमें काय की ऋजुता, वाणी की ऋजुता, तथा कथनी और करनी में समानता प्राप्त होती है। मायाचारी कुटिल स्वभावी को कभी मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती। उसे संसार में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पायेगा, क्योंकि

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविश्वास के कारण छल-कपट से उसकी आत्मा भटकती रहती है और भटकती रहेगी। उसका स्वभाव कुत्ते की पूंछ जैसा वक्र रहता है, जो बारह वर्ष के बाद अंगूठी से टेढ़ी ही निकलेगी। वह अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं पाता और उसी स्वभाव से पतित हो जाता है।

हमारे निर्मल और वक्र भावों का बेतार के तार जैसा सम्बन्ध होता है। उसे सामने खड़ा व्यक्ति समझ लेता है। चन्दन की लकड़ी का व्यापारी अपने मित्र राजा की मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहा, ताकि उसकी चन्दन की लकड़ी बिक सके। राजा को उसकी भावनाओं पर सन्देह हो गया। फलत: वह पकड़ा गया। उसी तरह वह उदाहरण भी प्रचलित ही है जिसमें एक पथिक किसी वृद्धा की पोटली पहले तो अपने सिर पर नहीं लेता है पर बाद में वह लेने की आकांक्षा व्यक्त करता है इसलिए कि उसमें रखे हुए माल-धन को वह हड़पना चाहता था। वृद्धा ने उसके भावों को परख लिया और उसे पोटली देने से मना कर दिया।

अज्ञानी व्यक्ति को टेढ़े चलने में बड़ा आनन्द आता है। बच्चे टेढ़े चलने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। मायावी व्यक्ति भी ऐसा ही टेढ़ा चलता है और खुश होता है। पर उसे टेढ़े चलने में शक्ति भी काफी लगानी पड़ती है। हमारी कार जितनी टेढ़ी मोड़ पर चलेगी उतना ही पेट्रोल उसमें अधिक लगेगा।

मायावी का स्वभाव बगुला जैसा होता है। देखने में तो वह सफेद और शुद्धाचरण वाला दिखाई देता है, पर व्यवहार में वह बड़ा कपटी और हिंसक रहता है। दूज का चन्द्रमा भी इसी तरह वक्रचन्द्र कहा जाता है। जैसे-जैसे उस चन्द्रमा की वक्रता कम होती जाती है वह पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और पूर्ण चन्द्रमा कहलाने लगता है।

कपटी शल्यों के संसार में जीता है। वह शल्य तीन प्रकार की होती है — माया, मिथ्या और निदान। वक्रता इन तीनों की आधारभूमि है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से भरा उसका सारा जीवन रहता है, जिसमें दूसरे को हानि पहुंचाना ही मुख्य ध्येय होता है।

कपटी का मन भी शेखचिल्ली जैसा कल्पनाओं में दौड़ता रहता है। सिर पर दूध की मटकी रखे ग्वाला कल्पना जगत् में घूमता हुआ मटकी से हाथ धो बैठता है। इसी तरह मायावी व्यक्ति कल्पनाओं के माध्यम से संसार की भोग वासनाओं को आमन्त्रित करता है और फिर दुःखों के सागर में कूद पड़ता है।

आज राजनीति आहत हो रही है। वहाँ जबर्दस्त कुटिलता और भ्रष्टाचार पनप रहे हैं। राजनीति आज एक शुद्ध व्यवसाय हो गया है। समाज उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अत: आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्जव-धर्म की साधना साधक को धर्म के यथार्थ रूप तक पहुंचा देती है। बनारसीदास और एकनाथ ने, कहा जाता है, चोरों के आने पर अपना धन स्वयं दे दिया। उनकी वह साधना आर्जव-धर्म की साधना थी, जहाँ अनासक्त और निस्संग भाव पनप चुका था। यही जीवन की निष्कपटता है।

श्रेयार्थी की ऋजुता

जिसमें ऋजुता रहेगी वह श्रेयार्थी होगा और जिसमें कपट होगा वहां प्रेयार्थी होगा। प्रेयार्थी सदैव इन्द्रियों का दास रहता है, इन्द्रियों को जो प्रीतिकर होता है उसकी खोज में वह दौड़ता रहता है, इसलिए दुःख पाता है, सदा नये-नये सुख की आकांक्षा करता रहता है, परन्तु श्रेयार्थी ऐसा नहीं होता। वह इन्द्रियों की चाह को पूरा नहीं करता, जिससे प्रथमतः दुःख मिलता है; पर परिणामतः सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है। वह शाश्वत सुख की खोज में रहता है।

श्रेयार्थी की ऋजुता में धोखा देने का स्वभाव नहीं रहता। वहाँ सरलता होती है, विनय होता है। सरल व्यक्ति का ज्ञान अनुभव से भरा होगा। उसमें गुरुता होगी, रूपान्तरित करने की शक्ति होगी। वह शिक्षक नहीं होगा, गुरु होगा, बौद्धिकता से परे होगा। शिक्षक पाश्चात्त्य संस्कृति से आया शब्द है जो मात्र व्यवसायिक है, ज्ञान का व्यापार करता है, पर 'गुरु' शब्द हमारी भारतीय संस्कृति का है, जहां ज्ञान का व्यापार नहीं होता। उसे द्विज भी कहा जाता है। वह इसलिए कि माता-पिता तो जन्म दे देते हैं, पर दूसरा जन्म गुरु के पास होता है जो जीवन को जीने का तरीका सिखाता है, अध्यात्म का पाठ पढ़ाता है इसलिए वह पूज्य होता है, श्रद्धेय होता है। गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध भारतीय परम्परा में अनूठा है। शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन पूरे समर्पण भाव से करता है। उसका अहं गिर जाता है और सदैव गुरु के पास रहता है, निर्व्याज रूप से। यह उसकी ऋजुता है।

भाषा का आरोपण धोखा को जन्म देता है। शरीर और उसकी भावभंगिमा धोखा नहीं दे पाती। बच्चा मां की भावभंगिमा समझ लेता है। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता, पर जैसे ही भाषा का सम्बन्ध आता है, धोखा और कपट भाव प्रारम्भ हो जाता है। शायद इसी आधार पर हमारा समूचा मुद्राशास्त्र खड़ा हुआ है। ध्यान की सारी मुद्रायें ऐसी हैं जिनको स्वीकार करने के बाद क्रोध, कपट आदि विकार भाव स्वतः तिरोहित होने लगते हैं। पद्मासन आदि मुद्रायें ऐसी ही हैं।

ऋजुता आने पर हमारा आक्रामक भाव चला जाता है, नम्रता आ जाती है, गम्भीरता पनपने लगती है, किसी को तिरस्कृत करने का भाव नहीं रहता, सभी के साथ सद्भावपूर्वक व्यवहार होता है, निन्दक नहीं होता। आंख की शर्म उसमें दिखाई देती है। उसकी चमड़ी मोटी नहीं होती। गलत काम करने का मन नहीं होता। यदि

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गलती हो भी गई तो उसे सादर स्वीकार कर लेता है और उसका यथोचित प्रायश्चित ले लेता है।

इसलिए ऋजुता जीवन का अमिट सूत्र है, मानवता का लक्षण है, अहङ्कार का विगलन है। उत्तम आर्जव का यही तात्पर्य है कि व्यक्ति धोखेबाज न हो और वह सही जीवन तथा धर्म का मर्म समझे।

सन्दर्भ

- मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
  अज्जवधम्मो तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण।। — बा०अणु०, ७३.
- योगस्यावक्रता आर्जवम् । स०सि०, ९.६, पृ० ४१२.
- जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे बंकं।
  ण य गोवदि णिय दोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स।।
  का०अनु०, ३९६; त०सा० ६.१५; अन०ध० ६.१७-२३.
- अज्जवं नाम उज्जुगत्तणं ति वा अकुडिलत्तणं ति वा।
  एवं च कुव्वमाणस्स कम्मणिज्जरा भवई, अकुव्वमाणस्स य कम्मोवचयो भवई।
  दश०वै०चूर्णि०, पृ० १८.
- परस्मिन्निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागः आर्जवम् । दशवै०नि०हरि०वृ०, १०.३४९
- आर्जवं मायोदयनिग्रहः। औप०अभय०वृ० १६.३३.
- मनोवचनकायकर्मणामकौटिल्यमार्जवम् । त०वृत्ति०श्रुत० ९.६.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७

जीवन की निर्मलता ही शुचिता है

अर्थ और प्रतिपत्ति

शोच और शुचि ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। इनका अर्थ है— निर्मलता, पवित्रता। यह पवित्रता बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार की होती है। बाह्य पवित्रता मिट्टी, जल, अग्नि और मन्त्र से की जाती है तथा आभ्यन्तर पवित्रता ब्रह्म, सत्य, तप, इन्द्रिय-निग्रह और सर्वभूतदया से प्राप्त हो सकती है। बारह व्रतों का परिपालन कर आत्मा की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कराना शुचि धर्म का कार्य है। पातञ्जलयोगप्रदीप में कहा गया है — ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को मैत्री आदि से दूर करना, बुरे विचारों को शुद्ध विचारों से हटाना, दुर्व्यवहार को सद्व्यवहार से दूर करना मानसिक शौच है।

सांसारिक वासना की अन्धी दौड़ में मन की चञ्चलता बढ़ जाती है। वह प्रेय विषयों की ओर दौड़ पड़ता है। प्रेय मन का विषय है और श्रेय चैतन्य का विषय है। मन वस्तुत: शेखचिल्ली है, वह स्वप्नों का शृङ्गार अधिक रचता है। कल्पना के लोक में भटकना उसका स्वभाव है।

गृहस्थ अभाव में जीता है। जिस ओर भी उसकी दृष्टि घूमती है, हथियाने का प्रयत्न करता है। राग उसका बन्धन है। जो भी मिलता है, उससे वह अपने को बांध लेता है। भीतर से वह खाली रहता है। उसे वह पर-पदार्थों के लोभ से भरने का प्रयत्न करता है। इस लोभ के कारण उसकी वृत्तियां पवित्र नहीं रह पातीं। शुचिता का विरोधी भाव ही लोभवृत्ति है।

स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने आकांक्षा भाव को दूर कर वैराग्य भावना से युक्त रहने को शौच कहा है (बारस अणु० ७४)। इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए पूज्यपाद ने लोभ से निवृत्ति को शौच कहा है। अकलंक ने इसी स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए लोभ के चार प्रकार बताये हैं — जीवन लोभ, आरोग्य लोभ, इन्द्रिय लोभ और उपभोग लोभ। सिद्धसेनगणि ने इस परिभाषा को कुछ और व्यापक बनाया और कहा कि सचित्त, अचित्त और मिश्र वस्तुओं में आसक्ति होना लोभ है। लोभ से ही क्रोधादि कषायों की

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पत्ति होती है। उनके न होने से आत्मा में स्व-पर हितकारी प्रवृत्ति जन्म लेती है। उसी को शौच कहा जाता है। अभयदेव सूरि ने शौच का सीधा सम्बन्ध पर-द्रव्य अपहरण की वृत्ति को दूर करने से जोड़ा है। इन सभी परिभाषाओं से अच्छी परिभाषा की है कुमारस्वामी ने। उन्होंने कहा है - जो समभाव और सन्तोषरूपी जल से तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन की गृद्धि नहीं करता, उसके निर्मल शौच धर्म होता है। अन्य आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं में शौच धर्म की ये सारी परिभाषायें लगभग एक जैसी हैं। इनका आधार है आचाराङ्ग, जहाँ कहा गया है कि भगवान् महावीर "सोयप्पहाणा" थे, शौच में प्रधान थे (६.१०२)।

शुचिता का विस्तार

शुचिता का गहरा सम्बन्ध है आध्यात्मिकता और नैतिकता से। आध्यात्मिक शुचिता व्यक्तिगत होती है और नैतिक शुचिता का सम्बन्ध समाज से रहता है। इन दोनों शुचिताओं में उत्तम शौच धर्म के साथ आध्यात्मिक शुचिता का सम्बन्ध अधिक रहता है। इस शुचिता को पाने में कतिपय लोग कभी परिस्थिति का बहाना कर स्वयं को पीछे हटा लेते हैं और कभी स्वभाव की आड़ लेकर उस ओर जाने से कतरा जाते हैं। पर अब तो स्वभाव भी बदला जा सकता है। आधुनिक विज्ञान में कुछ ऐसे प्रयोग हुए हैं जहाँ इलेक्ट्राड लगाकर वासना और भूख को शान्त कर दिया जाता है। बिजली के झटके लगने से बिल्ली और बन्दर की भूख मिट गई और चूहा-बिल्ली एक साथ खेलने लगे। इस तरह का प्रभाव हमारे महापुरुषों के प्रभाव से भी होता आया है। वीतरागी व्यक्ति की विद्युत में से ऐसी रश्मियाँ निकलती हैं, जिनसे अशुभ वातावरण शुभ में बदल जाता है और दुर्भिक्ष की जगह सुभिक्ष हो जाता है। चन्दन के व्यापारी मित्र को देखकर उसके मन में भरे दुर्भाव के कारण राजा को घृणा हो जाती है और फिर प्रसन्नता का भाव आ जाता है।

जीवन में इस प्रकार के अनेक प्रसङ्ग आते रहते हैं पर हम न उनका मूल्याङ्कन कर पाते हैं और न कर्तव्य-बोध जाग्रत हो पाता है। अर्जन के साथ विसर्जन वाला सिद्धान्त भी भूल जाते हैं। कहानी वैसी ही दुहराई जाती है जैसे तालाब को दूध से भरने का आदेश दिया गया और वह भरा मिला पानी से। सच तो यह है कि जीवन एक महाग्रन्थ है, महासागर है, शान्त भी है, अशान्त भी है। उसे समझना बड़ा कठिन है। शुचिता आये बिना उसे समझा नहीं जा सकता।

विरोधी भाव लोभ

शुचिता न आने का कारण है — मूर्च्छा, लोभ, परिग्रह, आसक्ति। तरतमता के आधार पर उसके चार भेद किये गये हैं — कृमिराग, कज्जल, कीचड़ और हलदी। आकांक्षायें इनकी पृष्ठभूमि में रहती हैं। आशायें इनके साथ चलती हैं। शुचिता का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधी भाव लोभ है जो देवगति में सर्वाधिक होता है। रूपादि का लोभ भी यहीं अभिव्यक्त होता है। हम जानते हैं, बारहवें गुणस्थान तक लोभ रहता है। यह लोभ जीवन में न जाने कितने संघर्ष का कारण होता है।

लोभ का कारण मन में निर्धनता का घर बन जाना होता है। मानसिक निर्धनता आर्थिक निर्धनता से कहीं अधिक खतरनाक होती है। आलस्य के कारण वह और भी पनपती चली जाती है। जापानियों ने लोकनायक जयप्रकाश नारायण से कहा था कि भारत तो समृद्ध देश होना चाहिए, क्योंकि यहां लोग आराम से बैठे-बैठे चिलम पीते रहते हैं। उन्हें नहीं मालूम था कि यह समृद्धि का नहीं, बल्कि अकर्मण्यता और निर्धनता का कारण है।

लोभी का यह स्वभाव है कि वह हर चीज को अकेले ही उपभोग में लाना चाहता है। प्रसेनजित ने श्रेणिक को एक लम्बी परीक्षा के बाद अपना उत्तराधिकारी बनाया। उन्होंने अपने पुत्रों को भोजन करने बैठाया और इधर कुत्तों को छोड़ दिया। श्रेणिक को छोड़कर सभी पुत्र तो उठकर भाग गये पर श्रेणिक ने कुत्तों को टुकड़े डाल-डाल कर भोजन कर लिया। सच यही है कि दूसरों को खिलाकर ही खाया जा सकता है। लोभी बाह्य परिस्थितियों के सामने घुटने नहीं टेकता और घुटने टेके बिना ही निर्णय ले लेता है।

चेतना में दोनों तत्त्व होते हैं— कुरूपता और स्वरूपता। उनकी पहचान हमारी मानसिकता के आधार पर होती है। तदनुसार कुरूपवान् स्वरूपवान् हो सकता है और सुरूपवान् कुरूपवान् हो सकता है। वस्तुत: ज्ञान पदार्थनिष्ठ न होकर स्वनिष्ठ होना चाहिए।

लोभ के साथ हिंसा का जन्म होता ही है। अपने इष्ट पदार्थ के संरक्षण के लिए हिंसा एक अनिवार्य तथ्य है। लोभी व्यक्ति का मानस पदार्थ की अस्वीकृति की ओर नहीं जाता। पदार्थ अनावश्यक भी होगा तो भी उसे वह जोड़ता रहेगा। इस मानसिकता की स्थिति को उस स्थिति से तुलना कीजिए जब कोई भोजनभट्ट किसी सुस्वादु भोजन को पेट की हालत को सोचे बिना ही खाता चला जाता है।

मिलावट की प्रवृत्ति के पीछे भी लोभ ही कारण रहता है। दवा में मिलावट करने वाला, उसी मिलावट भरी दवा के उपयोग से यदि अपने परिवार के सदस्य को खो डाले, तो उसकी विकृतियां उसे समझ में आ सकती हैं। पर लोभी की चेतना पर परदा पड़ा रहता है। वह उसके फल की ओर से वेसुध रहता है। यह अनैतिकता धनिक वर्ग में होती है। निर्धन के पास तो ऐसे साधन ही नहीं होते। इस क्रूरता का प्रकोप भी संग्रहवृत्ति के कारण धनिकों में ही अधिक देखी जाती है। लोभ के कारण उनका हृदय निष्ठुर हो जाता है। प्रेमपूर्ण भावना से पौधे भी प्रसन्न हो जाते हैं, पर धनिकों

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की निष्ठुरता नहीं पिघलती। इस निष्ठुरता से वे कभी-कभी ठगे भी जाते हैं। सुनार किसान को ठगता है और किसान कंकड़ वाला घी देकर सुनार को ठग लेता है।

यदि मनोबल को बढ़ाकर अपने अस्तित्व का बोध हो जाये तो लोभी की लोभ प्रवृत्ति कम होगी, कषाय भाव घटेगा और चारित्रिक विशुद्धि बढ़ेगी। उसे पाप का बाप "लोभ" समझ में आ जायेगा। उसे यह भी ध्यान में आ जायेगा कि सिकन्दर जैसे व्यक्ति ने अपने हाथ अर्थी के बाहर क्यों निकलवाये थे ? लोभी की ईर्ष्या प्रवृत्ति भी स्वभावत: कम हो जायेगी। वह फिर देव से ऐसा वरदान नहीं माँगेगा कि वह सब कुछ सोना हो जाय जिसे भी वह छुए।

देह की अपवित्रता, क्षणभंगुरता और आत्मा की पवित्रता और शाश्वतता पर चिन्तन करने से शौच-धर्म की अनुभूति गहरी होती है, जोंक जैसी प्रवृत्ति कम होती है तथा समता और सन्तोष जैसे विधायक भाव प्रवाहित होने लगते हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का चिन्तन साधक को धार्मिक चेतना की ओर ले जाता है।

ऋजुता भाव के गहराने पर मनुष्य जन्म की दुर्लभता भी स्पष्ट हो जाती है। दुनियाँ में मनुष्य के बराबर विकसित प्राणी कोई भी दूसरा नहीं है। जो विवेक उसे मिला है, वह किसी अन्य प्राणी के पास नहीं है। तीर्थङ्कर महावीर ने इसीलिए यह कहा है कि संसार में चार वस्तुएं बड़ी दुर्लभ हैं — मनुष्यत्व, शुचिता, श्रद्धा और संयम के लिए पुरुषार्थ —

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।

यहाँ सुई शब्द का अर्थ शुचि और श्रुति दोनों हो सकते हैं। मन का पवित्र होना ही शुचिता है, जो लगातार धर्मश्रवण और धर्माराधना से मिल पाती है। शुचिता के लिए यह आवश्यक है कि साधक दूसरे प्राणी को भी अपने जैसा समझे। उसके मन में दूसरे के प्रति दयाभाव रहे। यह दयाभाव जितना पर के लिए है उतना ही स्व के लिए भी है। चींटा, पशु-पक्षी हम भी हुए होंगे पूर्व जन्मों में। हम भी इसी तरह अपने प्राणों को बचाने के लिए भागते रहे होंगे। अब चूँकि हमारे पास विवेक अधिक है, हमें इस तथ्य को समझना चाहिए कि इन सभी प्राणियों में हमारी जैसी ही चेतना है, पर उस चेतना का वह विकसित रूप नहीं है जो हमारे पास है। अत: हमें उन पर दयाभाव रखना चाहिए। मनुष्य हुए और मनुष्यता न रही तो हमारा जन्म ही निरर्थक हो जायेगा। यह मनुष्यता ही शुचिता है। इसी से व्यक्ति का मन धर्मश्रवण की ओर पलटता है।

यहाँ धर्मश्रवण सभी से नहीं है। यहाँ तो धर्मश्रवण उससे हो जो स्वयं वीतरागी बन गया हो। वीतरागी व्यक्ति से धर्म की व्याख्या सुनना इसलिए अधिक सार्थक होता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि हमें उसकी अनुभूति से भरे शब्दों को सुनने का अवसर मिलता है। हम सही श्रावक बन जाते हैं। श्रावक का तात्पर्य ही यह है जो वीतरागी साधक की बात सुनने के लिए तैयार हो जाता है, जिसका मन निर्मल होकर अध्यात्म की ओर बढ़ जाता है, निर्ममत्व होकर आत्मचिन्तन करना स्वीकार कर लेता है।

आत्मचिन्तन करने वाला साधक ऋजुता की ओर बढ़ता है, जागरूक प्रज्ञा उसके साथ रहती है, सांसारिक चिन्तन से उसकी प्रज्ञा और भी गहरी होती जाती है। मृत्यु-चिन्तन से उसकी सत्य साधना में निखार आता है। वह गंगा स्नानादि जैसे मिथ्यात्व भरे विचारों को तो पहले ही दफना देता है। साथ ही जीवनलोभ, इन्द्रियलोभ, आरोग्यलोभ और उपयोगलोभ से भी निवृत्त हो जाता है (चा०सा० ६३.२)।

यहां शौच और त्याग में अन्तर समझ लेना चाहिए। शौचधर्म में परिग्रह के न रहने पर भी कर्मोदय से होने वाली तृष्णा की निवृत्ति की जाती है पर, त्याग में विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है, संयत के योग्य ज्ञानादि का दान दिया जाता है। इसी तरह शौचधर्म और आकिंचन्य अर्थ में भी अन्तर है। शौचधर्म लोभ की निवृत्ति के लिए है, जबकि आकिंचन्य धर्म स्वशरीर में निर्ममत्व बढ़ाने के लिए है।

निर्मोही व्यक्ति ही पूर्ण अहिंसक होता है। अहिंसा का तात्पर्य है दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालना। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। उसकी स्वतन्त्रता में खलल डालना हिंसा है। अचेतन पदार्थ तो परतन्त्र है ही पर चेतन पदार्थ की स्वतन्त्रता का हनन करना हिंसा है और हिंसा को शुचिता नहीं कहा जा सकता है। चींटी की स्वतन्त्रता को जब हम अपने हाथ में ले लेते हैं, तो हिंसा हो जाती है।

अन्तर शुद्ध हो जाने पर ही सही साधुता प्रकट होती है। वह भोगी को भी अपमानित नहीं करता और न ही अपनी साधुता को अहङ्कार का कारण बनने देता है। वह उपदेश देता है पर आदेश कभी नहीं देता। साधु में अपने साधुत्व का अहङ्कार आ गया तो उसकी साधुता समाप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, यह सम्भावना अधिक है कि साधु जो दोष दूसरे में देख रहा है वह दोष उसके अन्तर में भरा हो। सच तो यह है कि सही साधुता ही शुचिता है।

सन्दर्भ

- कंखाभावणिवित्तं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
  जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।। — बा०अणु० ७५.
- लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् - स०सि०, ६.१२.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- समसंतोष जलेणं जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।
  भोयणगिद्धविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।। — का०अणु०, ३९७.
- शौचं द्रव्यतो निर्लेपता भावतोऽनवद्य समाचारः - औपपा०अभयवृ० १६, पृ० ३३.
- चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।
  ज्ञान-चारित्र-शिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते।। — त०सा०, ६.१७.
- द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवम् - भ०आ०वि०, ४६, पृ० १५४.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८

सत्य : साधना की ओर बढ़ता पदचाप

अर्थ और प्रतिपत्ति

क्रोध, मान, माया और लोभ पर सात्त्विक चिन्तन करने से क्रमशः उत्तम शमन, मार्दव, आर्जव और शौच भाव चेतना में जाग्रत हो जाते हैं तथा चित्त सत्य-साधना की ओर बढ़ जाता है। साधक सत्य की साधना में यथार्थ को यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करता है। उसे जीवन और परमात्मा की सत्यता पर विश्वास होने लगता है।

सत्य की परिभाषायें लगभग समान हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है — दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों को त्यागकर जो अपना और दूसरे का हित करने वाले वचन बोलता है, उसे सत्य धर्म होता है (बा०अणु०, ७४)। उमास्वामी, पूज्यपाद और अकलंक इसी परिभाषा को शब्दान्तर से दुहराते हैं। अभयदेवसूरि ने अनलीक, अविसंवादन, योग, काया की अकुटिलता, मन की अकुटिलता और वाणी की अकुटिलता को सत्य धर्म माना है। कार्तिकेय ने जिनवचन को सत्यवचन मानने की बात कही है। उत्तराध्ययन में भावसत्य, करणसत्य और योगसत्य का यहाँ समावेश किया गया है।

साधन और स्वभाव

सत्य को समझने के लिए जिज्ञासा होना आवश्यक है। ज्ञान की खोज में रहे बिना अज्ञान को स्वीकार कर लेना कठिन होता है। सत्य की प्राप्ति अज्ञान की स्वीकृति से जुड़ी हुई है। तभी सत्य-साधक को शास्त्रों और सिद्धान्तों में जीवन दिखाई देता है। अन्यथा झूठ का इतना अधिक प्रचार हो जाता है कि झूठ ही एक दिन सच लगने लगता है।

सत्य को परखने वाला स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का अर्थ भी जानने लगता है। संसार में असक्त व्यक्ति परतन्त्र है। ऊंट को खूटी से छोड़ देने पर भी वह अपने आपको बंधा समझता है और स्वतः नहीं उठता। परतन्त्रता वस्तुतः कल्पित होती है। रस्सी पर दाना डालकर लोग तोते को पकड़ लेते हैं, क्योंकि तोता रस्सी को छोड़ नहीं पाता। उससे वह अपने आपको बंधा समझने लगता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य सीधा होता है। उसे याद रखने की जरूरत नहीं होती। पर असत्य टेढ़ा होता है, शृङ्खलाबद्ध होता है। एक झूठ को छिपाने के लिए दस झूठ बोलना पड़ता है। इसलिए उन्हें याद रखना भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। यह तथ्य तब समझ में आता है जब हमारा चित्त जागरूक हो जाता है। राजा को फकीर ने दर्पण भेंट किया ताकि वह जागरुक होकर स्वयं को देख सके। बुद्ध ने जागरूक होकर ही शव को और जराग्रस्त व्यक्ति को देखा। संवेग और वैराग्य बिना जागरूक हुए आ ही नहीं सकता। सम्राट् जब अकेले में कमरे में नग्न होकर स्वयं को परखता है तो उसे जीवन की सत्यता समझ में आती है।

हर व्यक्ति बदलना चाहता है, पर वह जिज्ञासा और जागरूकता से दूर रहता है। बदलने का एकमात्र तरीका है — देखना। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना। आत्मा ही ध्याता और ध्येय है। अखण्ड आत्मा को उसकी पर्यायों के साथ देखना और सोचना कि वे पर्यायें क्षणभंगुर हैं, पर इनमें व्यावहारिक सत्यता है। द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य की दृष्टि से आत्मा का विश्लेषण किया जाता है और फिर बाहरी चित्त से शुद्ध चैतन्य तक पहुँचा जाता है। चित्त को साधन बनाकर शरीर से चिन्तन करना प्रारम्भ करें। फिर क्रमश: चित्त की चञ्चलता, योग, कषाय, वीर्य पर विचार करें। इससे जाग्रत अवस्था का जन्म होगा, संकल्प बनेगा और रूपान्तरण प्रारम्भ हो जायेगा। इस रूपान्तरण में संकल्प का होना आवश्यक है। मनोबल नहीं होगा तो सत्य अज्ञेय ही बना रहेगा।

स्वास्थ्य को ठीक करना हो तो दर्द भरी जगह को विजातीय तत्त्वों से मुक्त कर दीजिए। यही सबसे बड़ी दवा है। इसी तरह संसरण से मुक्त होने के लिए भी आन्तरिक जागरण एक अचूक दवा है। सत्य के सामने सबसे बड़ी बीमारी है— सत्य को झुठलाने की प्रवृत्ति, सापेक्षता से दूर रहने की प्रवृत्ति। सारा संसार सापेक्षता से चलता है। माता, पिता किसी के लड़का, लड़की भी रहे हैं। अस्तित्व के साथ अनस्तित्व भी जुड़ा हुआ है, द्रव्य के साथ पर्यायें भी रहती हैं। इसी को अनेकान्तवाद कहते हैं। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के आधार पर वस्तुतत्त्व का विश्लेषण करने से व्यक्ति सत्य के यथार्थ स्वरूप को समझ सकता है।

चिन्तन की सार्थकता

सत्य की यथार्थता को समझने के लिए बारह भावनाओं का भी चिन्तन सहयोगी होता है। इनमें तीन भावनाओं, अनुप्रेक्षाओं पर विशेष चिन्तन करना चाहिए— अनित्य, अन्यत्व और एकत्व। सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं, देह और आत्मा भिन्न-भिन्न है तथा सुख-दुःख कोई बाँटनेवाला नहीं है। इन तीन भावनाओं के आने से शेष भावनायें साथ चलने लगती हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को प्रमुखता न देकर समाज को प्रमुखता देने से मानसिक तनाव बढ़ता है। संयोग को सब कुछ मान लिया तो वियोग होने पर असहनीय दुःख होता है। सापेक्ष सत्य यह है कि व्यक्ति और समुदाय दोनों तत्त्व सत्य हैं। दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व है। इस प्रकार विचार करने पर मानसिक तनाव कम होगा। सम्पत्ति आदि संयोग को मात्र संयोग माना जाये, तो उसका वियोग अधिक दुःखद नहीं होगा। मल-मूत्र का नियमित विसर्जन आवश्यक होता ही है, अन्यथा व्यक्ति अस्वस्थ हो जायेगा।

इस दृष्टि से जैनधर्म क्रान्तिवादी है। वह अहं और मन को विसर्जितकर आत्मसाधना और धर्मसाधना की बात करता है। सम्यग्दृष्टि से मिथ्यात्व को दूर कर, संसार की असारता को समझकर आत्मा और परमात्मा को पहचानने की बात करता है। वह स्पष्ट कहता है कि बगैर जाने किसी को भी न मानो। स्वानुभूति के बिना, आत्मज्ञान के बिना सम्यग्ज्ञान हो नहीं सकता। सम्यग्ज्ञान के बिना सच्ची श्रद्धा भी नहीं हो सकती और इन दोनों के बिना सम्यक्-चारित्र का आचरण नहीं हो सकता। रत्नत्रय की साधना के लिए सत्य की साधना आवश्यक है। यह चिन्तन सतत बना रहना चाहिए।

पूरा सत्य अनिर्वचनीय भले ही हो पर अनुभवनीय अवश्य होता है। सत्य में सत् है, सत्ता है। सत्यदर्शन निष्पक्ष चित्त की स्थिति है। सत्य विराट होता है इसलिए विरोधाभास दिखाई देता है। पूर्वाग्रह से मुक्त होकर निरपेक्षभाव से सत्य का दर्शन करना चाहिए। वचन पुद्‌गल का पर्याय है और सत्य आत्मा का धर्म है। सत् स्वरूप आत्मज्ञान में असत्य हो ही नहीं सकता। उस सत्य ज्ञान की साधना के लिए सत्याणुव्रत, सत्य महाव्रत, भाषासमिति, वचनगुप्ति आदि का पालन करना चाहिए।

जिसमें वायु की प्रधानता होती है वह बातूनी होता है और जो बातूनी होता है वह असत्यभाषी होता है। ''अजैर्यष्टव्यम्'' का गलत अर्थ करने वाले का पक्ष लेने के कारण, कहा जाता है, वसु राजा नरक में गये। विभीषण ने भगवान् राम का पक्ष सत्य के कारण ही लिया था। सत्यदर्शी संसार को नाटक मानकर चलता है, इसलिए वह समतादर्शी है, हर्ष-विषाद में सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता।

जीवन दो प्रकार का होता है — स्वयं के लिए और शरीर के लिए। संसार को क्षणिक मानकर ही स्वयं का जीवन प्रारम्भ होता है और जब वह विरागी हो जाता है, तो बालक जैसा प्रसन्न हो जाता है। चारित्र ही उसका धर्म बन जाता है। सोना और मिट्टी दोनों ही उसके लिए समान हो जाता है। सत्य-साधक ऐसे ही समतावादी होते हैं।

सत्य के प्रकार

सत्य और अहिंसा एक ही धर्म के दो पहलू हैं। इस धर्म से डिगने पर पश्चाताप सत्य से ही होता है। यह सत्य दस प्रकार का कहा गया है। आगमों में — नाम, रूप,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय। इनका विस्तृत वर्णन और व्याख्या वहाँ देखी जा सकती है।

इसी तरह असत्य के भी भेद किये गये हैं। वे चार प्रकार के हैं — (१) सत् वस्तु का निषेध, (२) असत् की स्वीकृति, (३) वस्तु का विपरीत स्वरूप, और (४) गर्हित वचन बोलना। क्रोध, लोभ, भय, पैशून्य, चपलता आदि के कारण व्यक्ति असत्य बोलने को मजबूर हो जाता है। यदि सत्य बोलने से किसी का बध होता हो और हिंसा होने की सम्भावना हो तो सत्याणुव्रती श्रावक असत्य बोल सकता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, हास्य, भय, आख्यायिका और उपघात के कारण लोग झूठ बोलते हैं। इन कारणों से मुक्त होकर सत्य की साधना करनी चाहिए।

उत्तम सत्य को समझने के लिए दस सत्यों को समझ लेना चाहिए। तत्त्वार्थवार्तिक में उनका स्वरूप इस प्रकार मिलता है— **नाम सत्य**- गुणविहीन होने पर भी व्यवहारत: उसे संज्ञा देना। **रूप सत्य**- वस्तु की अनुपस्थिति में रूपमात्र से उसका उल्लेख करना। **स्थापना सत्य**- में वस्तु का आरोपण किया जाता है। **प्रतीति सत्य**- औपशमिक आदि भावों की दृष्टि से कहा जाता है। **संवृति सत्य**- लोकव्यवहार के अनुसार संज्ञा देना। **संयोजना सत्य**- द्रव्यों में आकारादि को संयोजित करना। **जनपद सत्य** और **देश सत्व** में आध्यात्मिक वचन, जनपदों और देशों से सम्बद्ध रहते हैं तथा **भाव सत्य** में श्रावकों का उपदेश सम्मिलित है।

सांसारिक सत्य

सत्य धर्म बहु-आयामी है। असत्य वादन या चिन्तन भी बहु-आयामी है। इसका सम्बन्ध मात्र झूठ बोलने- न बोलने से ही नहीं है, बल्कि सांसारिक सत्य को भी समझने से है। उदाहरण के तौर पर पदार्थ या व्यक्ति की मृत्यु होती है यह निश्चित है, भले ही कब होगी, यह अनिश्चित है। इस सत्य को यदि स्वीकार कर लिया जाये तो धर्म की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहा जा सकता। कीर्केगार्ड का यह कथन गलत नहीं है कि धर्म का जन्म मृत्यु की चिन्ता से होता है। मृत्यु होती है, इस सत्य को हम सभी जानते है, पर किसी न किसी कारण से इस सत्य को हम अपने से दूर रखते हैं। मिथ्यात्व, लोभ आदि के कारण हम उस पर विचार नहीं करते, उसे टालते रहते हैं। जन्म के साथ मरण जुड़ा हुआ है और जीवन का प्रतिपल जरा के रूप में क्षरण हो रहा है। बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की ओर व्यक्ति सतत् बढ़ता जाता है। अपने कन्धों पर दूसरों की अर्थियाँ रखकर उन्हें श्मशानघाट पहुँचाता रहता है, पर स्वयं को इस तथ्य से अलग रखे रहता है। जिस दिन **''वत्थु सहावो धम्मो''** का सही साक्षात्कार हो गया, उसी दिन संसार से पार होने का मार्ग मिल गया।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थङ्कर महावीर ने इस तथ्य को बड़े सुन्दर शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान् जान-बूझकर सीधे-सादे राजमार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर अपनी गाड़ी ले जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर असहाय-सा होकर शोक करने लगता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी जान-बूझकर धर्म को छोड़कर अधर्म पकड़ लेता है, सत्य का अपलाप करता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर, जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है —

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महावहं।
विसमं मग्ग-मोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई।।
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मुच्चुमुहं पत्ते, अक्खभग्गे व सोयई।।

इस सांसारिक सत्य को समझने के लिए, आत्मसात करने के लिए अवस्था का कोई बन्धन नहीं रहता। इस सत्य पर फूल खिलने के लिए वृद्धावस्था की बाट जोहना आवश्यक नहीं है। इसलिए जैनधर्म कहता है कि धर्म का सही पालन वृद्धावस्था नहीं होता। उस समय तो इन्द्रियाँ स्वत: शिथिल हो जाती हैं। धर्म का सही पालन तो तब होता है जब इन्द्रियाँ युवा होती हैं, शक्ति से भरी रहती हैं। इसलिए संन्यास वृद्धावस्था का फल नहीं है। वह तो युवावस्था में आना चाहिए। युवावस्था में इन्द्रियों की उद्दाम शक्ति को कुण्ठित करने के लिए सारे तप आदि का व्याख्यान हुआ है। ऊर्जा को इस युवावस्था में यदि रूपान्तरित कर दिया जाये, तो जीवन में सही क्रान्ति आयेगी। महावीर इसी क्रान्ति के जनक थे, इसी सत्य मार्ग के प्रज्ञापक थे।

अनन्त सम्भावनाओं भरा सत्य

सत्य का सम्बन्ध हमारे सम्यक् श्रवण से है। हम अपने पूर्वाग्रह के कारण सत्य को सुनना ही नहीं चाहते, निष्पक्ष होकर उस पर विचार ही नहीं करना चाहते। निष्पक्ष होकर जब विचार किया जाता है, तभी सत्य की अनुभूति होती है।

हर पहलु में अनन्त सम्भावनायें बनी रहती हैं। व्यक्ति साधारणत: कुछ-एक पहलुओं को ही जानता है। असाधारण स्थिति में यदि वह पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से, यथार्थ रूप से जान भी जाता है तो उसे उसी रूप में एक साथ व्यक्त नहीं कर सकता। सत्य जाना जा सकता है समग्र रूप में, पर उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसी कठिनाई का अनुभव किये जाने पर महावीर ने स्याद्वाद सिद्धान्त दिया और कहा कि एक प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से दिया जा सकता है। इसके लिए उत्तर देने के पूर्व 'स्यात्' लगाइये जिसका अर्थ होता है 'कथञ्चित्'।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तथ्य को विज्ञान के क्षेत्र में आइन्सटीन ने सापेक्षवाद के रूप में प्रस्तुत किया और दार्शनिक क्षेत्र में यही सापेक्षवाद 'स्याद्वाद' के नाम से जाना जाता है। चिन्तन के क्षेत्र में इसी को अनेकान्तवाद कहा जाता है।

यह स्याद्वाद शायदवाद नहीं, संशयवाद नहीं, अनिश्चितता नहीं। यह तो सापेक्षता या रियलिटी को द्योतित करता है। इससे व्यक्ति के दृष्टिकोण का सम्मान किया जाता है। पारस्परिक संघर्ष को दूर करने का इससे सरल और कोई दूसरा सत्य-मार्ग नहीं है।

हंसी-मजाक में, उपहास में, क्रोध में, लोभ में हम असत्य बोल देते हैं। महावीर ने कहा, इस प्रकार भी असत्य नहीं बोला जाना चाहिए। किसी का उपहास करने में हम कभी-कभी प्रतीक का सहारा लेते हैं। किसी के केले के छिलके से फिसलने पर हम उसका मजाक करने लगते हैं। सत्य के क्षेत्र में इस प्रकार के मजाक भी नहीं किये जाने चाहिए। इससे दूसरे का अपमान होता है। काने, बहरे, लूले-लंगड़े को काना, बहरा, लूला-लंगड़ा कहकर पुकारना किसी भी स्थिति में व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। सत्यवादक इन शब्दों का प्रयोग कर उसका अपमान नहीं करेगा।

इस प्रकार सत्य, उत्तम सत्य जीवन के विविध पहलुओं को समझने का एक सही मार्ग है, संघर्ष और कलह से बचने का सर्वोत्तम रास्ता है, आत्मशान्ति और आनन्द का यथार्थ पक्ष है। यह आदेशात्मक नहीं, उपदेशात्मक है, सार्वभौमिक है।

सन्दर्भ

- परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण स-पर-हिदवयणं।
  जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। — बा०अणु०, ७४.
- सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। स०सि० ९.६.
- सच्चं नामं सम्मं चिंतेऊण असावज्जं ततो भासियव्वे सच्चं च। दशवै०चू०, पृ० १८.
- जिणवयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
  ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो।। — का०अणु०, ३९८.
- परायेतापादिवर्जितं कर्मादानकारणान्निवृत्तं साधुवचनं सत्यम्। मूला०वृ० ११.५.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१

मन पर नकेल लगाना ही संयम है

संयम की डोर

सत्य से साक्षात्कार करने पर संयम की डोर हाथ में थम जाती है। संयम का तात्पर्य है— स्वयं की शक्ति से परिचित हो जाना और मन की गति को बांध लेना। मन बेलगाम है, बेतहासा भागता रहता है और अतृप्त वासनाओं की ओर अन्तहीन दौड़ लगाता रहता है। उस दौड़ पर काबू पाने के लिए स्वाध्याय और संयम की आवश्यकता होती है, ताकि परम शान्ति को प्राप्त करने के लिए साधक अपनी शक्ति को पहचान कर उस दिशा में कदम बढ़ा सके।

साधना में संयम की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी लता को एक सहारे की। लता बिना सहारा बंधे पनप नहीं पाती, उसी तरह आत्मसाधना भी बिना संयम के सुगन्धित नहीं हो पाती। संयम जीवनरूपी साइकिल के लिए ब्रेक का काम करता है, सड़क पर चलने के नियमों की याद दिलाता है और सन्तुलन बनाये रखने के लिए ध्यान कराता है। वह एक ऐसा बल्ब है जो बिजली के संगृहीत प्रवाह को संभाल लेता है।

मन पर नकेल स्वानुभूतिपूर्वक

मन की बेजोड़ शक्ति पर नकेल लगाने की जरूरत महसूस होनी चाहिए। वह कहीं अति पर न दौड़ जाये। उसकी गति पर सतत जागरूकता बनाये रखने की आवश्यकता है। मन की रेखायें जानने के लिए डॉ० ग्रीन ने 'फीड बैक' नामक यन्त्र बनाया है, जिससे भावों की दौड़ का अन्दाजा लगाया जा सकता है। चित्त जहाँ पापमय होने लगे, मन को वहाँ से तुरन्त हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। मन की एकाग्रता उसकी पवित्रता में है। पवित्रता लाने के लिए उसका मार्जन करना ही पड़ेगा। उसे मारने की जरूरत नहीं, छानने की जरूरत है। सत्कार्यों में रस पैदा हो जाये तो मन की दौड़ स्वत: कम हो जाती है। वाचस्पति मिश्र 'टीका' करने में इतने तन्मय हो गये कि वे विवाहित होने पर भी ब्रह्मचारी रहे और बिना नमक का भोजन वर्षों तक करते रहे। 'टीका' समाप्त होने पर ही उन्हें नमक का ध्यान आया और स्मरण आया कि उनकी पत्नी भी है, जिसने इतना सहयोग किया है। वीणा के तार से संगीत तभी पैदा होता है, जब वे जुड़ जाते हैं। सम्यक् ज्ञानी की यही पहचान है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानी होने के दो ही रास्ते हैं — किताबी ज्ञान हासिल करना और अनुभूति के माध्यम से अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना। किताबी ज्ञान हौज जैसा होता है, जो बंधा रहता है, सीमित रहता है और अभिमान से भरा रहता है। मैला होने और सड़ने की भी सम्भावना उसमें बनी रहती है। पर अन्तर्ज्ञान कुआँ जैसा होता है जो निरभिमानी रहता है, सड़ता नहीं, निर्बन्ध रहता है, गहरा रहता है। अन्तर्ज्ञानी निर्विचारी बन जाता है। शिष्य और संन्यासी के झोलों में सोने की ईटें हैं। शिष्य उन्हें कुएँ में फेंककर निर्भय बन जाता है, पर संन्यासी गुरु उनका भार ढ़ोते-ढ़ोते भय के भूत से परेशान बना रहता है। स्वानुभूति न होने का यह फल है। किताबी ज्ञान एक उधार पत्थर के अलावा और क्या हो सकता है, यदि उसमें स्वानुभूति का गीलापन न हो। वह तो मात्र इन्द्रियज्ञान है जो खण्ड-खण्ड का ज्ञान कराता है।

तीन चेतनायें मानी जाती हैं — इन्द्रिय चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक चेतना। इन तीनों चेतनाओं से निकलकर ज्ञान जब अनुभव चेतना तक पहुँचता है, तभी आत्मरमण हो पाता है और उसे ही संयम कहा जाता है। संयम से ही समाधि मिलती है और ध्यान, ध्याता और ध्येय इकट्ठे हो जाते हैं। इन्द्रिय विषय-वासना से हटकर संयम से ही भीतर जागरण हो जाता है।

सारा संसार इन्द्रिय विषयी राग-द्वेष में जल रहा है और जलते हुए भी प्रसन्न हो रहा है। उसे जलने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह तो खुजली को खुजाने में ही आनन्द का अनुभव कर रहा है, भले ही खून की धारा बहने लगे। यदि वह सामायिक-समता का चिन्तन करने लगे तो वैराग्य होने में, एकाग्र होने में देर नहीं लगेगी और चित्त भी प्रसन्न हो जायेगा।

चित्त और विचारों पर नियन्त्रण रखने के लिए संयम एक सशक्त साधन है। अन्यथा वही बात होगी कि शराबी रातभर नौका चलाता रहा, पर नौका वहीं की वहीं बंधी रही, क्योंकि उसे निर्बन्ध नहीं किया था, खूटे से बन्धनमुक्त नहीं किया था।

आंख आक्रामक होती है, इसलिए आंख लग जाती है। कान ग्राहक होता है, वह बहु-आयामी होता है। इसीलिए श्रवण पर बहुत जोर दिया गया है। सही श्रावक भी वही कहलाता है जो सम्यक् श्रवण करे। सम्यक् इसलिए कि शब्द और रूप सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। ध्यानस्थ मुनि ने सुना कि श्रेणिक ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। मुनि ध्यानस्थ होने पर भी विचलित हो गये। इसलिए संयम पालन के लिए स्वाध्याय की बहुत जरूरत होती है। वह उफनते दूध में पानी का काम करता है। स्वाध्याय से ही स्वानुभूति का जागरण होता है।

संयम और अनुशासन

संयम एक प्रकार का अनुशासन है, जो क्रूरता, विषमता और स्वभाव जटिलता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के स्थान पर क्रमशः करुणा, समता और सहिष्णुता पैदा कर देता है। इच्छाओं, आकांक्षाओं और आशाओं से बन्धा व्यक्ति अपनी रंग-बिरंगी पतंग को आकाश में उड़ा तो देता है, पर वह बिना डोरी के जल्दी ही धरती पर गिरकर धराशायी हो जाती है। इसलिए सर्वप्रथम इच्छाओं को संयमित करना चाहिए। अन्यथा जिस प्रकार शिवाजी गरमागरम खिचड़ी को बीच से खाना शुरु करने पर जल गये थे, उसी तरह इच्छा पर अनुशासन किये बिना संयम की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वह जल जाना मात्र होगा। इच्छा प्राणी का लक्षण है **अपथ्य** पर उसका परिष्कार किया जाना आवश्यक है।

आदत भी इच्छा का ही रूप है। वह भी संयम से दूर हो सकती है। इसलिए आदत को अपरिवर्तनीय नहीं मानना चाहिए। ध्यान और चिन्तन प्रक्रिया द्वारा उनसे मुक्ति पायी जा सकती है। आदत का और आहार का सम्बन्ध मस्तिष्क से रहता है और ये दोनों वातावरण के माध्यम से संस्कार का रूप ले लेते हैं। आहार के स्वरूप से मस्तिष्क सम्बन्धित रहता है। "जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन" आहार यदि हित, मित और सात्विक है तो भावनायें निश्चित ही तद्रूप हो जायेंगी। अन्यथा इच्छाओं पर अनुशासन करना कठिन हो जायेगा। भिखारी राजा को भी जब परमात्मा के सामने मांगते देखता-सुनता है, तब वह राजा को भी भिखारी मानने लगता है और उसको भी अपनी श्रेणी में गिनने लगता है।

साधना काल में नीरस भोजन पर बल दिया जाता है; क्योंकि भोजन और अध्यात्म का गहरा सम्बन्ध है। भोजन इन्द्रियों को पोषित करता है, उनकी क्षमता बढ़ाता है। इसलिए साधक का भोजन सात्विक होना चाहिए। तामसिक भोजन इन्द्रियविकारी होता है। साधक जिन्दा रहने के लिए भोजन करता है, भोजन के लिए जिन्दा नहीं रहता। इसलिए संयमी व्यक्ति को सात्विक एवं शाकाहारी होना चाहिए।

शरीर चिन्तन संयमी का गहन साधन है। शरीर की अपवित्रता, अविनश्वरता और जड़ता का चिन्तन शरीर से मोहासक्ति कम कर देता है। इसके लिए कतिपय आसनें भी हैं जिनसे एकाग्रता बढ़ती है। कायोत्सर्ग, प्राणायाम और रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना शारीरिक अनुशासन है।

वाचिक अनुशासन में भाषासमिति का पालन किया जाता है। भाषा वही बोलो जो हित, मित और प्रिय हो, अन्यथा मौन रहना ही श्रेयस्कर है। सत्यवादन संयमी की सही साधना है।

संयम में मानसिक अनुशासन भी जरूरी है। इसके बिना संयम अधूरा रह जाता है। मन स्वरूपतः पवित्र होता है, कोरा कागज जैसा रहता है, पर हमारी भावना, संस्कार और वृत्तियाँ उस पर चित्र बनाती रहती हैं। मन ही आश्रय का कारण है और मन ही

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा को आश्रय देता है। अत: सामायिक और ध्यान संयम के अपरिहार्य तत्त्व हैं।

साध्य प्राप्ति का क्षण भले ही छोटा हो पर उसकी प्रक्रिया बहुत बड़ी होती है। दही से मक्खन निकालना एक श्रमसाध्य कार्य है। वह बिना लगातार मन्थन के निकलता नहीं है। इसी तरह कहं चरे? कहं सिट्ठे? के उत्तर में "जयं चरे जयं तिट्ठे" की उपासना हो, कर्म और अकर्म में सन्तुलन हो, शरीर और मन का सन्तुलन हो। आदमी केवल सुनता ही नहीं है, वह धारणायें भी बना लेता है जो उसके जीवन को यथावत् घुमाती रहती हैं। इसलिए मन को संयमित करना संयम की सही साधना है।

यह संयम एक तो सावद्य योगों सम्पूर्ण निवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और दूसरा अंश निवृत्ति के अर्थ में। इन दोनों को क्रमश: सकल चारित्र और देश चारित्र कहा जाता है। साधारण श्रावक देश चारित्र का पालन करता है। चारित्र में प्रवृत्ति ही संयम है। संयम का सारा विधान इसी के अन्तर्गत हो जाता है।

संयम : निषेध से विधेय की ओर

संयम का सम्बन्ध हिंसा से है। हमारा सारा जीवन हिंसा से भरा हुआ है। चौबीस घण्टे मन सोते-जागते हिंसा में लीन है। वह हिंसा छोटी हो या बड़ी हो, हिंसा बिना जीवन आगे नहीं बढ़ता। जीवेषणा जीवन का आधार है। इसी जीवेषणा मूलक जीवन को बचाने के लिए ही हिंसा का जन्म होता है। हिंसा के कृत्य में 'मैं' ही मुख्य रहता है और 'मैं' की पूर्ति में ही सारे कर्म उत्पन्न होते हैं। दूसरे को पराजित करने में ही रस आता है। रस आये बिना किसी को जीतने में भी आनन्द नहीं आता। ऐसा आनन्द टिकाऊ नहीं होता।

संयम का साधारणत: अर्थ निरोध या दमन लिया जाता है, जो सही नहीं है। दमन में मन को मारा जाता है, दबाया जाता है जबरदस्ती। यह उसका मात्र निषेधात्मक रूप है, जो ऊपरी है, भीतरी नहीं है। हम संयम के ऊपरी रूप को ही पकड़ते हैं, भीतर जाने का प्रयत्न नहीं करते। संयम वस्तुत: निषेध से विधेय की ओर जाने का नाम है। मन पर नकेल लगाना मात्र निषेध से सम्भव नहीं, विधेयात्मकता उसमें जुड़ी हुई है।

संयम का सम्बन्ध वृत्तियों को सम्भालना है, वृत्तियों की शक्ति से परिचित होकर आत्मशक्ति का परिचय देना है। संयम को 'कण्ट्रोल' कह देना उचित नहीं होगा। हां, उसका अनुवाद 'ट्रेन्क्किलिटी' शब्द देकर किया जा सकता है। निष्कम्पता और स्थितिप्रज्ञता अर्थ बिना सही संयम नहीं हो सकता।

सही संयम में मन धुरी पर रहता है, निषेध की अति पर नहीं रहता। वहां मन समाप्त हो जाता है, निर्मन हो जाता है। निर्मन हुए आदमी की कोई जिन्दगी नहीं होती।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन के साथ जिन्दगी दौड़ा करती है। दौड़ती जिन्दगी में घटनायें होती हैं, बुराइयाँ होती हैं इसलिये बुराइयों के बिना कोई कथा या चलचित्र नहीं रहता। कथा या चलचित्र द्वन्द्व में घूमता है। द्वन्द्व बिना कथा में कोई जान नहीं रहती। रावण के बिना राम के जीवन का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

संयम का निषेधात्मक पक्ष ही हमारी दृष्टि में अधिक आता है, इसलिए हम संयम को उसी से जोड़ता हुआ पाते हैं। संवर और र्निर्जरा, दोनों का रूप संयम है। संवर का काम है— रोकना और निर्जरा का काम है— उस रोकने से विधेयात्मकता को पैदा करना। संवर में मन को रोका जाता है **अपथ्य** पर तनावपूर्वक नहीं। यदि तनाव रहेगा तो टूटन होगी, अपने से लड़ना होगा। जहाँ टूटन और लड़ना होगा वहाँ संयम नहीं हो सकता। जीभ को काट देने से आहार के रस से निवृत्ति नहीं होगी, बल्कि निवृत्ति होगी तब जब हमारी वृत्ति अन्तर की ओर मुड़ जायेगी। बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर जाना ही संयम है। बाह्य इन्द्रियाँ स्थूल पदार्थ से जुड़ती हैं और अन्तर इन्द्रियां आत्मा से जुड़ती हैं, जिसे हम अतीन्द्रिय शक्ति कहते हैं। अतीन्द्रिय शक्ति को जाग्रत करना ही संयम की विधायक दृष्टि है। ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ इसी अतीन्द्रिय शक्ति की देन हैं।

इस अतीन्द्रिय शक्ति को पाने के लिए मन को अनुशासित करना नितान्त आवश्यक है और मन को अनुशासित करने के लिए इच्छा, आहार, इन्द्रिय, शरीर, वचन आदि को अनुशासित किया जाता है। इन सभी वृत्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध है, एक-दूसरे से वे जुड़ी हुई हैं।

इच्छा प्राणी का लक्षण है। मन की चञ्चलता हमारी इच्छा पर ही निर्भर करती है। इच्छा से ही प्रमाद और कषाय का जन्म होता है। सारी इच्छायें हमारी नाभि के आसपास जाग्रत होती हैं। यही अविरति का केन्द्र है, चतुर्थ गुणस्थान है। यह चेतना जब नाभि से नासाग्र तक भ्रमण करती है, तब उसे प्राणपुरुष कहा जाता है और जब वह भृकुटि से ऊपर विचरण करती है तो उसे प्रज्ञापुरुष मान लिया जाता है। निम्न केन्द्र पर चेतना की सक्रियता निम्न वृत्तियों को जन्म देंगी और जैसे-जैसे वे ऊपर के केन्द्रों में जायेंगी, हमारी वृत्तियाँ शुभ से शुभतर की ओर बढ़ती जायेंगी, इसी को हम अन्तर्मुखी वृत्ति कह सकते हैं। केन्द्रों को नियन्त्रित करना इसी अन्तर्मुखी वृत्ति से सम्भव होता है।

शरीर क्षणभंगुर और अनित्य है, अपवित्र है पर हमारी बाह्य इन्द्रियों की कार्यशीलता उसी पर निर्भर करती है। उनकी अपनी सीमा है, इच्छा है, व्यवस्था है जिसे वे पार नहीं कर सकतीं। जब तक उनकी सक्रियता रहेगी, अन्तर इन्द्रियों की आवाज सुनाई नहीं देगी। अन्तर की इस आवाज को सुनने के लिए कायोत्सर्ग, आसन,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध, व्यायाम और प्राणायाम करना पड़ता है। निरासक्त होकर साधक इन साधनों का उपयोग कर शरीर की अशुचिता और अनित्यता पर चिन्तन करता है।

सामाजिकता के लिए वचन शक्ति एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, जीवन शक्ति का एक अन्यतम साधन है। वचन का सम्बन्ध मन से होता है और फिर शरीर से उसकी अभिव्यक्ति होती है। भावों की दुनियाँ से शरीर अपने आपको बचा नहीं सकता। क्रोधादि भाव शरीर में कहीं न कहीं प्रकट हो जाते हैं। भावों के अनुसार ही हम उच्चारण करते हैं, जप करते हैं और ओमादि बीजाक्षरों की पुनरुक्ति से ऊर्जा का अधिग्रहण करते हैं। इसलिए शरीर की शुद्धि के साथ ही वचन की भी शुद्धि होनी चाहिए। वाक्शुद्धि संयम का ही अंग है।

मन हमारी वृत्ति और प्रवृत्ति के अनुसार दौड़ता है, कभी-कभी न चाहते हुए भी मानसिक वृत्ति के कारण शरीर और वचन की प्रवृत्ति हो जाती है। भावना, संस्कार और वृत्ति से मन पर अनेक तरह के चित्र बनते रहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से आस्रव के झरने फूटते रहते हैं। संकल्प की दृढ़ता और एकाग्रता से इन झरनों को सुखाया जाना अत्यावश्यक है। पुराने संस्कार और आदतों की प्रक्रिया ध्यान से बदली जा सकती है। आदत स्वभाव नहीं है, जिसे हम बदल नहीं सकते। आदतों को संयम के माध्यम से बदला जा सकता है, आध्यात्मिक चिन्तन और आत्मानुभूति के प्रयोग से आदतों से छुटकारा पाया जा सकता है, यही संयम की शक्ति है।

सन्दर्भ

- वयसमिदिकसायाणं दंडाणं इंदियाण पंचण्हं।
  धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ।।
  — पंचसंगहो (प्रा०) १.१२७.
- वदसमिदिपालणाए दंडच्चोएण इंदियजयेण।
  परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।। — बा०अणु० ७६.
- प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेविरतिः संयमः । स०सि० ६.१२.
- संजमो नाम उवरमो रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति। दशवै०चू०, पृ० १५.
- संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः । ध्या०श०वृ० ६८.
- धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारस्संयमः। स०सि०, ९.६.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०

स्वस्थ होना ही उत्तम तप है

तप और आध्यात्मिक स्वास्थ्य

संयम जितना गहरा होगा तप उतना ही स्वच्छ होगा। अभी तक सिद्धान्त की बात चलती रही, अब तप से व्यवहार की बात प्रारम्भ होती है। शरीर को मात्र कष्ट देते रहना तप नहीं है। तप तो वह है जहाँ साधक स्वस्थ होकर, मन का मार्जन करने चल पड़ता है। तप का काम है संचित कर्मों की निर्जरा करना और वर्तमान में कर्मों को संचित न होने देना। जिस प्रकार माली पलाश के पत्तों में आम रखकर, पाल लगाकर आम को समय से पहले पका देता है उसी प्रकार तप से कर्मों के फल को समय से पूर्व ही निर्जीर्ण कर दिया जाता है।

ज्ञान का सार आचार है, धर्म का सार शान्ति है और जीवन का सार स्वास्थ्य है। श्वास पर ही यह स्वास्थ्य निर्भर करता है। भाव, मन, और शरीर के माध्यम से स्वास्थ्य की सही स्थिति का पता चल जाता है। इनको हम क्रमश: आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य कह सकते हैं। मन के तनाव और शरीर की व्याधियाँ तो दिखाई देती हैं, पर भावों का दर्शन नहीं होता, वे सूक्ष्मतम हुआ करते हैं। हम शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान देते हैं, उसे ठीक करने के लिए तरह-तरह की दवायें लेते हैं, पर भाव-स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देते। होना चाहिए कि हम आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दें।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य के बाधक तत्त्व हैं— आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। ये तत्त्व अनन्त बाधाओं और विपत्तियों को आमन्त्रित करते हैं, जिन्हें तपस्वी शान्त मन से और आत्मबल से सहन करते हैं। उसे यदि कोई कोड़े भी लगाये तो वह प्रसन्न मन से सह लेता है। आचाराङ्ग आदि आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि काम के जाग्रत होने पर छ: आलम्बनों का उपयोग करना चाहिए— अनशन, रसपरित्याग, ऊनोदर, ग्रामानुगमन और संकल्प-परिवर्तन। ध्यान के साथ इन आलम्बनों का उपयोग करने पर इस प्रकार की बाधायें स्वत: शान्त हो जाती हैं।

तप के साथ आहार संयम गहराई के साथ जुड़ा है। यहाँ संयमित आहार का प्रयोग एक विशेष अभ्यास के साथ किया जाता है। जिह्वा के साथ चीनी, नमक और

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकनाई का स्वाद और उनके बने व्यञ्जनों का प्रयोग एक साधारण गृहस्थ कैसे भूल सकता है? पर तपस्वी उनसे दूर रहता है। स्वाद की आसक्ति से मुक्त तपस्वी ही सही साधना कर पाता है। अनेक तरह के आयंबल, उपवास और आतापनायें तपस्वी किया करता है। वह स्त्री, भक्त (आहार), देश और राज विकथाओं से भी मुक्त रहता है, क्योंकि इन विकथाओं में सांसारिक वासनायें भरी रहती हैं। राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार और काम आदि भावों से ओतप्रोत ये कथायें आध्यात्मिक साधना में बाधक बन सकती हैं, तपस्वी के मनको आकर्षित कर सकती हैं। अत: तपस्वी उनसे दूर रहता है।

आज सारा संसार भौतिकता की चकाचौंध में आकण्ठ डूब रहा है। उसे स्वयं के बाहर की चिन्ता तो है, पर अन्तर की चिन्ता उसमें दिखाई नहीं देती। हर क्षेत्र चाहे वह राजनीतिक हो या व्यापारिक, सामाजिक हो या शैक्षणिक,भ्रष्टाचार से आकण्ठ डूबा हुआ है। उसे आध्यात्मिकता की ओर झांकने की भी इच्छा नहीं होती। यदि कुछ करता भी है, तो मात्र पाखण्ड या बाहरी दिखावा रहता है।

हाँ, यदि हम आध्यात्मिक का अर्थ अन्तर या भीतर करें, तो जो भी प्रतिक्रियायें होती हैं, चाहे वे अहंकार हो या कषाय, सब कुछ आध्यात्मिक कहलायेंगी, क्योंकि उनका अस्तित्व भीतर रहता है। संतोष, असंतोष, तृष्णा आदि सभी तत्त्व अन्तर्जगत के तत्त्व हैं। ये तत्त्व प्रतिक्रियायें हैं। इनका झुकाव वृत्तियों अथवा क्रियाओं की ओर रहता है। जो भी झुकाव होता है, वह प्रतिक्रिया का फल है। वृत्ति का अर्थ क्रिया है। क्रिया ध्यान के द्वारा जानी जाती है। आचरण, व्यवहार आदि प्रतिक्रियायें हैं। ध्यान के माध्यम से ही साधक अपने आपको चेतना-जगत् में चला जाता है।

तप और साधक

ध्यान वस्तुत: चित्त को बदलने की एक क्रिया है, एक जीवन पद्धति है, जहाँ विवेक जाग्रत हो जाता है और बदलाव शुरू हो जाता है। साधक कायोत्सर्ग और सामायिक आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन करता है, संसार चिन्तन करता है और विशुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यही उसकी यथार्थ साधना है।

साधना का प्राण है— विवेकपूर्वक किया गया तप, जिससे हमारी सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत होती हैं और आत्म से परमात्म अवस्था को प्राप्त होती हैं। यह तप सम्यक् हो, रत्नत्रय से संयुक्त हो तभी सार्थक होता है, अन्यथा शरीर को कृश करना कोरी मूर्खता मानी जाती है, कर्मों की निर्जरा उससे नहीं होती। तामली ने साठ हजार वर्ष तक ऐसा ही तप किया, जो आत्मदर्शनपरक नहीं था। इसे बालतप कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान के बिना किया गया तप तप नहीं है। कड़कड़ाती धूप में आतापना लेना, वृक्ष-शाखा से औंधे लटकना, एक पैर या शीर्षासन के बल पर खड़े रहना, छाती तक भूमि में गड़े रहना, काई या तृण मात्र खाकर बने रहना, नासाग्र तक जल में खड़े रहना आदि

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपस्यायें शरीर को मात्र कष्ट देना है, यदि उससे सम्यग्ज्ञान या विवेक न जुड़ा हुआ हो।

यथार्थ तप अन्तर्मुखी होता है और परमात्म अवस्था को पाने के संकल्प के साथ किया जाता है। तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने छद्मावस्था में एक हजार वर्ष तक तप किया। अन्य तीर्थङ्करों ने भी इस प्रकार तप कर अपने कर्मों की निर्जरा की। महावीर ने बारह वर्ष की उत्कृष्ट साधना की, जिसमें ३४९ दिन ही आहार-ग्रहण किया। उनके शिष्यों में धन्ना अनगार जैसे महादुष्करकारक उग्र तपस्वी थे, जिन्होंने मुक्तावली, एकावली, आयंबिल, भिक्षुप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के तप किये और निर्वाण प्राप्त किया।

तप वस्तुत: आध्यात्मिक साधना का आलम्बन है। उसमें जब त्रियोग के परमाणु तथा तैजस और कार्मण के अति सूक्ष्म परमाणु उत्पन्न होते हैं, तब परिणामों में निर्मलता आती है, विषय-कषायों का शमन होता है और कर्मों की निर्जरा होती है। यह वस्तुत: एक अन्तर्यात्रा है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार विषय और कषाय-भाव का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना करना तप है। उमास्वामी ने पूज्यपाद और अकलंक ने बाह्य और आभ्यन्तर तपों का जिक्र करते हुए लिखा है कि कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। कुमार कार्तिकेय ने समभावपूर्वक जो काय क्लेश किया जाता है, उसे तप कहा है। अभयदेवसूरि और सिद्धसेनसूरि के मत में जिससे रक्त, मांस आदि तपता है, वह तप है।

तप में चेतना का तपाव होता है। उसमें ध्यान, ध्याता और ध्येय तीनों मिल जाते हैं। उनका यह मिलन बिना अग्नि-परीक्षा के नहीं होता है। रत्नत्रय का पालन भी तप ही है या यों कहिए कि मुक्ति प्राप्ति के लिए रत्नत्रय के साथ-साथ तप भी करना पड़ता है। स्वर्ण की परख तापन से ही हो पाती है। बिना अग्नि में डाले उसकी विशुद्धता नहीं जानी जाती। अपने को अग्नि में डालकर ही सोना सौ चट होकर सामने आता है और आभूषण बनकर अपने को प्रस्तुत करता है। दूध को तपाकर मलाई बनायी जाती है। इसी तरह तप को धौंकनी की भी उपमा दी गई है। जीवन रूपी लौह-तत्त्व को तप रूपी धौंकनी से धौंककर तपाया जाता है, तब कहीं वह स्वर्ण बन पाता है। इसलिए साधना के क्षेत्र में तप के महत्त्व को सभी ने स्वीकारा है।

तप एक ऊर्जा है

तप करने के पीछे दो प्रकार की मानसिकता होती है—एक तो पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करना और दूसरी शरीर को कष्ट देकर सुख की आकांक्षा करना। आकांक्षा के साथ तप का कोई सम्बन्ध नहीं है। दुःख तो कोई भी प्राणी नहीं चाहता पर सुख

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की लालसा में वह दुःख पाने से बच भी नहीं पाता और सम्यग्ज्ञान न होने के कारण कायिक दुःख में भी वह सुख का अनुभव करता है। जो आगे चलकर वह एक आदत के रूप में मन में घर कर जाता है। तप का सम्बन्ध स्वयं से लड़ना नहीं है। यदि तपस्वी स्वयं से लड़ता है तो वह तप का विकृत रूप है, आत्मदमन है और आत्मदमन तप हो नहीं सकता है। उसमें तो जिस वृत्ति का दमन किया जायेगा वह प्रक्षेपित होकर और भी विकृत रूप में सामने आयेगी।

प्राचीन आगमों में 'इन्द्रियदमी' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। वहाँ वस्तुतः दमन का अर्थ वृत्ति को दबाना नहीं है, शमन करना था और यह शमन किया नहीं जाता है, हो जाता है। इसमें तपस्वी विपरीत वृत्ति से लड़ता नहीं है, क्योंकि यदि वह लड़ेगा तो अप्रत्यक्ष रूप में उसी ओर खिंचता चला जायेगा। काम या धन से लड़ने वाले तपस्वी का खिंचाव उसी ओर बढ़ता जायेगा। फलतः प्रकृति से वह विकृति की ओर जायेगा, संस्कृति तक नहीं पहुँच पायेगा। संस्कृति तक पहुँचने के लिए उसे विकृतियों से ऊपर उठना होगा। ध्यान के अध्ययन से उन वृत्तियों को शक्ति के रूप में परिणत करना होगा। कामवासना का केन्द्र शरीर का सबसे नीचे का भाग है जहाँ हम प्रकृति से जुड़े हैं। हमारा ध्यान वहाँ न होकर यदि सहस्रार चक्र पर हो तो तप से एक ऊर्जा मिलेगी, जो साधक को विकृतियों से बचा सकेगी, शक्ति को रूपान्तरित कर सकेगी।

तप को अग्नि भी कहा गया है। अग्नि ऊर्ध्वगामिनी होती है। अन्तर की इस अग्नि का स्वभाव भी ऊपर उठना है। इसे यदि हमने सही मार्ग दे दिया तो यह सहस्रार चक्र तक पहुँच जायेगी, क्योंकि उस मार्ग पर आदत का कोई नामोनिशान नहीं रहता। आदत स्वभाव नहीं है। आदत तो हम स्वयं निर्मित करते हैं और जिसका निर्माण किया जाता है, वह स्थायी नहीं होता। इसलिए आदत से मुक्त हुआ जा सकता है। वह शरीर और मन के बीच एक सुलह है, जिससे व्यक्ति बार-बार उस पर ध्यान देता है, पुनरावृत्ति करता है और फिर आदत का निर्माण कर लेता है। पुनरावृत्ति का रस मन में न हो तो आदत से मुक्त होना कठिन नहीं है। शरीर को तो हम अपने अनुसार मोड़ सकते हैं। असली प्रश्न है मन की चंचल गति को रोकना। मन की दौड़ से ही आदत बनती है। तप आदत नहीं है, ध्यान के माध्यम से अपने मूल स्वभाव को प्राप्त करना है, केन्द्र को बदलना है। महावीर ने तप को इसीलिए ऊर्जा कहा है कि सम्यक् रूप से तपस्वी उस ऊर्जा को प्राप्त कर लेता है और उसके क्रोधादि विकार शान्त हो जाते हैं, मन शीतलता का अनुभव करता है।

शरीर को कृश करना तप नहीं है, मन को कृश करना तप है, सही मन से शरीर को कृश कर उस ऊर्जा से सम्बन्ध स्थापित कना तप है। यह ऊर्जा ही आभामण्डल है, जो हमारे शरीर के बाहर हमारे भावों के अनुसार वर्तुल रूप में बना रहता है। इसे ही हमारे ग्रन्थों में सूक्ष्म शरीर कहा गया है। योग में चक्रों की सारी व्यवस्था इसी सूक्ष्म

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर से होती है। यही सूक्ष्म शरीर वास्तविक शरीर कहा जाना चाहिए, क्योंकि दृश्य शरीर का क्षरण होता जाता है, नष्ट हो जाता है पर अदृश्य सूक्ष्म शरीर कभी नष्ट नहीं होता, प्राण-ऊर्जा नष्ट नहीं होती। वह शरीर से बाहर निकलकर नये शरीर की खोज करती है और यह खोज भावों या कर्मों के अनुसार होती है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं।

तप के प्रकार

जैन धर्म में तप को दो रूपों में विभाजित किया गया है— बाह्य तप और आभ्यन्तरतप। तप के ये दो हिस्से हैं। बाहर से अन्तर में जाना इसका उद्देश्य है। इसलिए ये दोनों प्रक्रियायें साथ-साथ चलती हैं। बाह्य तप करना मिथ्या तप माना गया है। बाह्य तप है— अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, काय-क्लेश और विविक्त शय्यासन। आगमों में इन तपों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ कनकावली, एकावली आदि विविध प्रकार के तपों का उल्लेख हुआ है। इन तपों में बाह्यतप के बिना आभ्यन्तर तप अधिक कार्यकारी नहीं होता, भीतरी आत्मतत्त्व को सक्रिय करने के लिए शरीर को तपाना ही पड़ता है। दूध को तपाने के लिए बर्तन की जरूरत पड़ती ही है। इन तपों को संक्षेप में हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं।

बाह्यतप

अनशन का तात्पर्य है अचानक भोजन से निवृत्ति अर्थात् उपवास। भोजन की आवश्यकता होती है शरीर को सुस्थिर रखने के लिए। जब भोजन बन्द कर दिया जाता है तब शरीर अपने भीतर ही रहने वाली चर्बी को अपना भोजन बना लेता है। इसलिए कहा जाता है कि नब्बे दिन तक व्यक्ति भोजन के बिना रह सकता है। यह एक संकटकालीन प्राकृतिक व्यवस्था है। सात-आठ दिन के बाद भूख भी समाप्तप्राय हो जाती है, क्योंकि शरीर अपने ही भीतर से भोजन लेना शुरू कर देता है। भोजन लेने और छोड़ने के बीच के संक्रमण काल पर चिन्तन करना अनशन का उद्देश्य है। इस चिन्तन में "मैं शरीर नहीं हूँ" पर गहराई से विचार किया जाता है। शरीर के साथ भोजन का तादात्म्य सम्बन्ध है। जितना अधिक भोजन होगा, शरीर पर उतना ही अधिक ध्यान जायेगा। इस तादात्म्य सम्बन्ध से फिर निद्रा आने लगती है। भोजन के बाद नींद के आने का यही कारण है। अनशन करने से नींद नहीं आयेगी, जागरण होगा। जो ऊर्जा आहार के पाचन में लग रही थी वह अब चिन्तन में लग जायेगी। इसलिए अनशनकाल में शरीर की अस्थिरता पर चिन्तन करना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि अनशन करने वाले का भोजन भी सात्विक होना चाहिए। तामसिक भोजन से कामोद्दीपन होता है। मांस भक्षण से काम और राग अधिक बढ़ते हैं, पाचन क्रिया पर भी जोर पड़ता है। इसलिए पूर्ण शाकाहारी होना तपस्वी के लिए एक शर्त है। यह भी शर्त है कि अनशन करने वाला आहार

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर चिन्तन न करे, अन्यथा उसका अव्यक्त मन आहार पर ही दौड़ता रहेगा और स्वप्न में भी उसे आहार-भोजन ही दिखाई देता रहेगा। उस स्थिति में व्यक्ति मन का दास हो जायेगा और अनशन कार्यकारी नहीं हो पायेगा। यह प्रामाणिकता हमारे मन में होनी चाहिए। संकल्प होना चाहिए। यहाँ उसे आदत नहीं बनाया जा सकता। आदत में चिन्तन नहीं होगा, इसलिए अनशन का त्याग ही एकायक नहीं होता। अनशन के बाद तपस्वी अवग्रह लेता है कि यदि ऐसा-ऐसा होगा तो ही वह भोजन ग्रहण करेगा, अन्यथा नहीं। यह अनिश्चितता प्रकृति पर छूट जाती है। इसमें आहार से कोई लगाव नहीं रहता, बस एक प्रामाणिकता रहती है, संकल्प रहता है। उसमें जीवेषणा नहीं रहती। अनशन जीवेषणा को त्यागने का द्वार है, इन्द्रिय संयमन का उपाय है। जीवन आहार के लिए नहीं है, आहार जीवन के लिए है। यही उद्घोषणा अनशन का उद्देश्य है।

अनशन के बाद बाह्यतप में **ऊनोदर** का नाम आता है, जिसका अर्थ है— भूख से कम खाना या परिमित खाना। इसको अवमौदर्य और अवमोदरिका भी कहा जाता है। स्वस्थ पुरुष का आहार बत्तीस कवल का होता है, स्त्री का अट्ठाईस का और नपुंसक का चौबीस कवल का होता है। ऊनोदर का तात्पर्य है इक्कीस कवल से अधिक नहीं खाना।

बहुत सारे काम हम अपनी आदत के अनुसार करते हैं और वही आदत एक स्वभाव का रूप ग्रहण कर लेती है। प्रत्येक इन्द्रिय का एक उदर है, सीमा है, उससे अधिक उसे यदि दिया जायेगा तो उसकी क्षमता कम हो जाती है। प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ जाता है, अस्वाभाविक हो जाता है। आदत से वासनायें जागती हैं। भूख यदि आदत बन जाये तो वह स्वाभाविक भूख नहीं होगी। अनशन से झूठी भूख टूटती है और ऊनोदर से वास्तविक भूख उभरती है। उस वास्तविक भूख में भी कम खाना ऊनोदर तप है। इस तप में इच्छा को सामर्थ्य के भीतर रोका जाता है (यदि सामर्थ्य के बाहर वह चला जाता है, तो आप उसके अधीन बन जाते हैं, जिसका परिणाम मात्र विषाद ही होता है। अत: किसी भी इन्द्रिय को चरम सीमा तक नहीं जाने देना चाहिए। चरम तक पहुँचने के पहले ही उससे हट जाना ऊनोदर तप है। यह तप सन्तुलन का प्रतीक है।

तीसरा तप है **वृत्ति संक्षेप**। इसका तात्पर्य है अपनी वृत्तियों और इच्छाओं को संक्षिप्त करना, सीमित करना या केन्द्रित करना। 'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया', इच्छायें आकाश के समान अनन्त होती हैं। सभी को परिपुष्ट नहीं किया जा सकता। अत: उन पर संयम कर व्यर्थ में बहने वाली ऊर्जा को रोक लेना चाहिए। संक्षेप का तात्पर्य है—सिकोड़ना। यदि इच्छाओं को सिकोड़कर केन्द्र पर सीमित कर दिया जाये और उसके फैलने के लिए बुद्धि का प्रयोग किया जाये तो इच्छायें स्वत: समाप्त होने लगती हैं। मन को एकाग्र कर इस फैलाव को रोकना ही वृत्ति संक्षेप है। इन्द्रियों का उपयोग कम से कम होना चाहिए। उससे स्वानुभूति में तीव्रता आती है और प्रज्ञा का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश फैल जाता है।

वृत्ति को केन्द्रित करने के बाद रस परित्याग होता है। रस-परित्याग का तात्पर्य मधुर, आम्ल, तिक्त, कषायला और लवण में से किसी रस या रसों का परित्याग करना मात्र नहीं है। असली बात है रस परित्याग कर उसके स्वाद से मन को अलग कर देना। वस्तु तो स्वाद का निमित्त मात्र है। यदि अन्तर उससे जुड़ा न हो तो स्वाद आयेगा ही नहीं। मृत्यु और मिष्ठान्न दोनों सामने हों तो मिष्ठान्न का स्वाद आयेगा कैसे? न मिठाई का मीठापन गया है और न इन्द्रिय की स्वाद ग्रहणशीलता कम हुई है, पर मन उसे पकड़ने की स्थिति में नहीं है। अत: रस परित्याग कर मन को वश में करना आवश्यक है। अन्यथा वह और भी वेग से आक्रमण कर सकता है। मन बार-बार स्वाद को लेना चाहता है पर चेतना यदि उससे नहीं जुड़ी है तो मन भी क्या करेगा?

रस-स्वाद से मुक्त होने के लिए कभी-कभी दूसरे रस को ले लेते हैं, नमक छोड़कर उसे स्थान पर मीठा ग्रहण करने लगते हैं। पर यह तो बेइमानी है। इससे हम स्थानपूर्ति ही करते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जिन बच्चों को प्यार नहीं मिलता, माँ का दूध नहीं मिलता वे अंगूठा चूसने लगते हैं और वही बड़े होकर सिगरेट पीने लगते हैं। एकाकीपन को दूर करने के लिए शराब और सिगरेट का साथ लेने लगते हैं। अत: चेतना के सहयोग से मन को रोका जाना चाहिए।

रस-परित्याग के बाद **कायक्लेश** है, जिसे परीषह या उपसर्ग कहा जाता है। इसमें शरीर को कष्ट नहीं दिया जाता, बल्कि शरीर से तादात्म्य छोड़ा जाता है। तादात्म्य छोड़ने के लिए कभी-कभी साधक कष्ट आमन्त्रित करता है और कभी प्रकृति से स्वभावत: जो मिलता है उसे सहता है। प्रकृति से जो दुःख मिलता है उसे साधक प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है और जप, तप आदि के माध्यम से कष्टों को आमन्त्रित कर शरीर से राग छोड़ता है। कायोत्सर्ग, वीरासन, प्रतिमासन, दंडासन आदि धारण कर शरीर से ममत्व को त्यागने की प्रक्रिया की जाती है। केशलुंचन भी उनमें एक है। काय-क्लेश से किसी प्रकार के सुख की अकांक्षा नहीं होती बल्कि उस दुःखानुभव से दुःख से मुक्ति होती है।

काय-क्लेश संलीनता का कारण बन जाता है। संलीनता का असली अर्थ है स्व में लीन हो जाना। स्व में लीन होने के लिए कुछ सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। सबसे पहली और मुख्य सीढ़ी है— शरीर को हलन-चलन क्रिया से मुक्त करना। काय-क्लेश या तप करते समय शरीर स्थिर रहना चाहिए। मानसिक व्यग्रता होगी तो हाथ-पैर चलेंगे। क्रोध में नथुने फूलना, आँखे लाल होना व्यग्रता का परिणाम है। कमर को झुकाकर बैठना, दीवाल से टिक जाना हमारी व्यग्रता का ही प्रदर्शन है। इस व्यग्रता और बहुचित्तता को रोकना आवश्यक है। यहाँ संलीनता का तात्पर्य है सम्यक् निरीक्षण

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, स्वयं में लीन हो जाना, आत्मरमण करना।

संलीन का प्रतिपक्षी शब्द है तल्लीन होना। तल्लीन होने में व्यक्ति के सामने कोई दूसरा पदार्थ रहता है, जिसमें वह स्वयं को समर्पित कर देता है। यह एक प्रकार से आत्मसमर्पण है। महावीर का मार्ग आत्मसमर्पण का नहीं, आत्मरमण का है। हमारे भीतर एक और यन्त्र मानव या रोबोट बैठा है जो यन्त्रवत् काम कर रहा है। अवधान हो जाने पर वही काम करता है। मातृ भाषा भी इसी का परिणाम है। वह बचपन में रोबोट तक पहुँच जाती है, फिर मूर्च्छित अवस्था में भी वही पुनरुक्त होती है। अवधान का रहस्य भी इसी से जुड़ा हुआ है।

प्रतिसंलीनता में आत्मशान्ति मिलती है, विधेयक भाव जाग्रत होते हैं। साधक इससे अन्तर में प्रवेश करता है। बाह्यतप के प्रथम पाँच भेद शक्ति को एकत्रित करते हैं और प्रतिसंलीनता साधक को अन्तर में प्रवेश करा देता है जिससे आत्मशक्ति का प्रवाह स्वयं की ओर मुड़ जाता है। यहीं से संवर की यात्रा शुरु होती है। इसलिए इसे 'संयम' और 'गुप्ति' भी कहा जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए कच्छप का उदाहरण दिया गया है और कहा गया है कि साधक पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, तीन योग और विविक्त-शय्यानासनों का कच्छप की तरह गोपन करे। यही प्रतिसंलीनता है। यह अन्तर तप या आभ्यन्तर तप के लिए वस्तुत: द्वार कहा जाना चाहिए।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप के छ: भेद हैं— प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। **प्रायश्चित्त** का तात्पर्य है प्राय: लोगों के मन में आये दोषों को दूर करने की प्रक्रिया। यह प्रथम अन्तर इसलिए रखा गया है कि इसमें साधक सबसे पहले स्वयं की गलती को देखे। साधारणत: गलती होने पर कभी कर्म पर आरोपण कर दिया जाता है तो कभी परिस्थिति पर, स्वयं को नहीं देखते। इसमें स्वयं के द्वारा स्वयं में ही निहारा जाता है। दूसरे की गलती पर ध्यान न देकर स्वयं को गलत स्वीकार कर लेना। इस स्वीकृति से अहंकार का दलन होता है और आत्मजागरण का संकल्प शुरू होता है।

प्रायश्चित्त को पश्चात्ताप नहीं कहा जाना चाहिए। पश्चात्ताप में आपने जो किया उसके लिए संताप व्यक्त किया जाता है, पर स्वयं को देखा नहीं जाता। पश्चात्ताप में अहंकार की तृप्ति होती है, की हुई भूल पर क्षमा-याचना की जाती है, पर प्रायश्चित्त में व्यक्ति उससे भी आगे सोचता है कि वह गलती उसी की है। इससे स्वयं के भीतर झाँकने का अवसर मिलता है, उसे क्षमा करने का भी ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो परमात्मा भी व्यर्थ हो जाता है। इसमें तो आत्म स्वीकृति मुख्य है, दोषों से विगलित होने की प्रक्रिया है। दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, भय आदि के कारण व्रतों की साधना में दोष आ जाते हैं। प्रायश्चित्त से इन दोषों की शुद्धि की जाती है। इनकी शुद्धि के

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाय हैं— अलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभयार्ह, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, दीक्षा छेद, पुन: दीक्षा-ग्रहण (उपस्थापना), अनवस्थाप्य और पारांचिकाई। प्रमादजन्य दोषों की शुद्धि के लिए इन मार्गों का विधान किया गया है।

साधक प्रायश्चित्त में सारी गलती का आरोपण स्वयं पर कर लेता है कि यदि ऐसा नहीं होता तो उसे ऐसा नहीं करना पड़ता। उसका ध्यान यहाँ तक कि स्वयं के अतीत जन्मों पर चला जाता है कि उसने पूर्वजन्मों में भी इसी प्रकार भूलें की होंगी। इस सहज स्वीकृति से आत्म-विशुद्धि बढ़ जाती है और नये-नये द्वार उद्घाटित हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के बाद विनय आता है। विनय बिना अहंकार-नाश के नहीं आता। इसमें दूसरे के दुर्गुण को देखने में न रस रहता है और न स्वयं को सज्जन प्रमाणित करने की आकांक्षा। यह तो एक विधेयात्मक गुण है, जहाँ अहंकार का कोई भाव ही नहीं है। इसमें यह भी नहीं देखा जाता है कि सामने खड़ा व्यक्ति अपने से छोटा है या बड़ा। अपने से श्रेष्ठ या बड़े व्यक्ति का आदर करना व्यावहारिक विनय है, क्योंकि अपने से छोटे या निकृष्ट व्यक्ति का फिर अनादर भी किया जा सकता है। पर विनय तप में ऐसा नहीं होता। वहाँ तो आदर दिया नहीं जाता, हो जाता है। तुलना का कोई स्थान विनय में नहीं है। वह तो एक आन्तरिक गुण है, विशुद्धि है। विनय-तप करने वाला गलती करने वाले के कर्मों पर विचार करेगा कि कर्मों के कारण उसे ऐसा करना पड़ा। दोष उसका नहीं उसके कर्मों का है। अत: कर्म करने वाले का अनादर क्यों किया जाये? व्यावहारिक विनय के आगे का कदम है विनय-तप, जहाँ सब कुछ स्वयं पर डाल दिया जाता है, ताकि किसी प्रकार का अहंकार न आ सके। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार के माध्यम से विनय सम्पन्नता आ पाती है।

वैयावृत्य का अर्थ है—सेवा। रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना वैयावृत्ति है। यह वैयावृत्ति वस्तुत: अतीत कर्मों की निर्जरा के लिए होती है। इसका सम्बन्ध भविष्य से नहीं है। भविष्य तो स्वभावत: आत्मविशुद्धि के कारण मोक्ष प्रापक होगा पर वह साध्य नहीं है। साध्यता है, अतीत कर्मों की निर्जरा। इसलिए गहराई से विचार करने पर यह समझ में आयेगा कि जैनधर्म में दया और पुण्य को भी कर्मबन्धन का कारण माना गया है। ईसाई आदि धर्मों में सेवा को परमात्मा की प्राप्ति से जोड़ा गया है, पर जैनधर्म ने उसका सूत्र भविष्य से न जोड़कर अतीत से जोड़ा है, क्योंकि कोई स्वार्थ उससे न जुड़ा रहे अन्यथा अहंकार उठ खड़ा होगा। इसलिए वैयावृत्ति को उत्तम सेवा माना गया है। इस सेवा में न वासना की कोई गन्ध रहती है और न उसमें किसी प्रकार का रस रहता है। यह तो एक औषधि है, जिससे दूसरे का रोग मिटा दिया जाता है। साधक के मन में कर्तृत्व का भाव नहीं रहता। इस सेवा के क्षेत्र में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, कुल (शिष्य समुदाय),

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण, संघ और साधर्मिक (समनोज्ञ), निःस्वार्थ होने से यह वैयावृत्ति अन्तर-तप है और कर्म-निर्जरा का कारण बनती है।

स्वाध्याय का तात्पर्य है— स्वयं का अध्ययन। यहाँ स्वाध्याय का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन मात्र नहीं है, उस पर चिन्तन कर आत्म-शोधन करना उसका लक्ष्य है। यह स्वाध्याय वस्तुगत नहीं, आत्मगत होता है। वस्तुगत स्वाध्याय साधन है। पदार्थ के स्वभाव का अध्ययन कर उसकी क्षणभंगुरता पर चिन्तन होना चाहिए। कोरा ज्ञान तो अहंकार का कारण बन सकता है, पर स्वाध्याय से परम सत्य का ज्ञान होता है, मूर्च्छा विगलित होती है, मन मंजता है और साधक अप्रमादी होकर अन्तर में झांकने लगता है। यह झांकने की क्रिया वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के माध्यम से स्वाध्याय की प्रवृत्ति जाग्रत होती है और आत्मजागरण होता जाता है। इसी एक को जानने से सभी को जाना जा सकता है।

पाँचवां अन्तर-तप है—**ध्यान**। ध्यान का तात्पर्य है मन को एकाग्र करना। मन प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों भावों की ओर जाता है। प्रशस्त ध्यान की चर्चा तो सभी ने की है, पर अप्रशस्त ध्यान की ओर महावीर ने ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। पर पदार्थ की ओर चित्त को दौड़ाना अप्रशस्त ध्यान है। पर पदार्थ स्थिर रूप से कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ परमात्मा को भी अस्वीकार किया गया है। प्रार्थना भी जैनधर्म में गौण हो गई है, क्योंकि प्रार्थना में दूसरे की सहायता ली जाती है। जैनधर्म में सहायता की आवश्यता ही नहीं की गई है। यहाँ तो पर पदार्थों से सम्बन्ध समाप्त किया जाता है और स्वभाव में स्थिर हुआ जाता है। इसी को सामायिक कहा जाता है।

सामायिक में समय का अर्थ है आत्मा, शास्त्र और काल। ये तीनों अर्थ अपने आप में बड़े महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। काल का सम्बन्ध चेतना की गति से है। पदार्थ में लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई तो होती है पर अचेतन पदार्थ में काल पर चिन्तन करने की शक्ति नहीं रहती। यह शक्ति चेतन पदार्थ में होती है और चेतन पदार्थ का मन दौड़ता रहता है, जो समय के बिना सम्भव नहीं होता। सामायिक में शास्त्र-स्वाध्याय के अनुसार अनुभूति का जागरण होता है, आत्मा पर चिन्तन होता है और चेतना की गति को स्थिर किया जाता है। अप्रशस्त ध्यान में मन आर्त और रौद्र भावों पर जाता है, क्रोधादि विकार भावों की ओर मुड़ता है वहीं पर प्रशस्त ध्यान नहीं है जहाँ मन पर पदार्थों से हटकर स्वभाव में स्थिर हो जाता है।

प्रशस्त ध्यान में मन को विश्राम नहीं दिया जाता, क्योंकि जहाँ विश्राम की बात आती है वहाँ मूर्च्छा और निद्रा आ ही जाती है। यहाँ तो मन को स्मरण के माध्यम से पृथक् किया जाता है। प्रतिक्रमण, जातिस्मरण और स्मरण के माध्यम से ध्याता स्वयं

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पर पदार्थों से पृथक् करके देखता है। यही भेदविज्ञान है। शब्द और अर्थ पर उसका मन संक्रमण करता रहता है। बाद में यह संक्रमण बन्द हो जाता है और पदार्थ की एक ही पर्याय पर पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है। ध्यान की यह द्वितीय अवस्था बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें कषाय शान्त हो जाते हैं और परम वीतरागता प्रगट हो जाती है। इसी को पारिभाषिक शब्द में "एकत्व-श्रुत-अविचार" कहा जाता है, जहाँ केवलदर्शन और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। तीर्थङ्करों द्वारा कथित उपदेशों का चिन्तन-मनन, अनुकरण करते हुए आत्मा और शरीर के पृथक्त्व पर विचार करते हुए साधक शुक्लध्यान पर पहुँच जाता है।

अरिहन्त परमेष्ठी की स्थिति में पहुँचने पर साधक के नाम, गोत्र, वेदनीय और अघातीय कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो जाती है। उसे समान करने के लिए केवली अपने आत्मप्रदेशों को समस्त संसार में फैला देते हैं और आयुकर्म की स्थिति को बराबर शेष अघातीय कर्मों की स्थिति में कर लेते हैं। बाद में आत्मप्रदेश पूर्ववत् शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी को समुद्घात क्रिया कहा जाता है। इससे स्थूलकाय के माध्यम से स्थूल मनोयोग और वचनयोग का निरोध हो जाता है और श्वासोच्छ्वास के रूप में सूक्ष्म क्रिया बच जाती है। जब वह भी समाप्त हो जाती है तो केवली शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसी को चौदहवाँ गुणस्थान कहा जाता है।

अन्तर तप का अन्तिम भेद है—**कायोत्सर्ग**। शरीर से पूर्णत: ममत्व छोड़ देना, शरीर के रहते हुए भी उससे चेतना को दूर हटा लेना कायोत्सर्ग है। साधक प्रतिदिन कायोत्सर्ग करता है और चेतना तथा शरीर के बीच स्थापित तादात्म्य को विच्छिन्न करने के भाव को दृढ़ करता है। इस अवस्था में अहंकार, ममकार, कषाय आदि सभी प्रकार की उपधियों का व्युत्सर्ग हो जाता है। सही मृत्यु की यही तैयारी है, यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का यही छोर है। मैं शरीर नहीं हूँ, यह भाव दृढ़तर करने रहना ही मृत्यु की तैयारी है। मैं आत्मा हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, जैसे विधायक भावों को चेतना में स्थिर कर लेना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है, मोहनीय-कर्म का विनाश हो जाता है और पाप-पुण्य से परे, स्वर्ग-नरक से अलग मोक्षतत्त्व को प्राप्त कर लिया जाता है।

तप का आधार चारित्रिक विशुद्धि

तप का भी एक क्रम होता है। उसे धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। जिसका लीवर खराब हो जाता है उसकी जठराग्नि को उद्दीप्त करने के लिए पहले मूंग की दाल का पानी देते हैं और फिर धीरे-धीरे रोटी वगैरह देना प्रारम्भ करते हैं। इसी तरह तप की ओर साधक क्रमशः बढ़ता चला जाता है और अन्ततः मोक्ष प्राप्ति तक पहुँच जाता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस उद्देश्य की प्राप्ति में चारित्रिक विशुद्धि एक आवश्यक तत्त्व है, जो तपस्या से उसी तरह जुड़ा हुआ है जिस तरह शरीर से त्वचा। इसी प्रकार मन को विशुद्ध करने के लिए ध्यान-साधना भी की जाती है, जिसमें शरीर, श्वासोच्छवास आदि पर चिन्तन-मनन किया जाता है। मन विशुद्ध न हो, मिथ्यात्व से भरा हो तो ऐसे तप को तप नहीं कहा जा सकता और न ही उसे आध्यात्मिक साधना का अंग ही माना जा सकता है क्योंकि ऐसा तप शरीर को कष्ट देने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस प्रकार मोक्ष की साधना में तपोयोग का सर्वाधिक महत्त्व है। संवर और निर्जरा का उत्तरदायित्व तपोयोग का ही होता है। तपोयोग की साधना में आहारशुद्धि, कायक्लेश, इन्द्रियसंयम और ध्यान—ये चार सूत्र हैं, जिनसे व्यक्ति में चिन्तन, अनुप्रेक्षा और भावना आता है तथा समता की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तपस्या वृद्धावस्था में ही नहीं की जाती है, बल्कि वह उस समय भी की जानी चाहिए जब सारी इन्द्रियाँ अपने भरे यौवन पर हों। अन्यथा इन्द्रिय विजयी कैसे कहा जा सकेगा। वृद्धावस्था में सारी इन्द्रियाँ वैसे ही दुर्बल हो जाती हैं। विवश होकर व्यक्ति इन्द्रियभोग नहीं कर पाता। इन्द्रियों के दुर्बल होने पर यदि इन्द्रिय विजय की बात कही जाये, तो वह मात्र धोखा देना ही होगा। जिसने सारी जिन्दगी रावण की सेवा की हो वह मरते वक्त राम का नाम कैसे ले सकता है। संस्कार जैसे होंगे, अन्तिम समय भी वही संस्कार रहेंगे। इसलिए जैनधर्म प्रतिस्त्रोतगामी माना जाता है, संघर्षशील कहा जाता है। तप का यही रूप और स्वरूप है।

सन्दर्भ

- विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाण-सज्झाए।
  जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। — बा०अणु० ७७।
- कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः।— स०सि० ९-६।
- तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं नासेतित्ति वुत्तं भवइ। — दशवै०चू० १, पृ० १५।
- चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आडंजणा यजो होई।
  सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स।। — भ०आ० १०।
- इह परलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
  विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स।। — का०अनु० ४००।

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११

राग-द्वेष भाव का विसर्जन ही त्याग है

अर्थ और प्रतिपत्ति

तप के बाद साधक का मन अपने शरीर से निरासक्त हो जाता है और वह त्याग की ओर बढ़ जाता है। यहाँ 'त्याग' और 'दान' दो शब्दों का प्रयोग होता है। साधारण तौर पर दोनों में अन्तर नहीं किया जाता है, पर गहराई से विचार करें तो दोनों शब्दों में अन्तर है। पदार्थ के प्रति राग-द्वेष भाव का विसर्जन करना 'त्याग' है। इस त्याग में 'स्व' को निमित्त बनाकर कषाय को छोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु 'दान' में दूसरे के लिए देने का भाव रहता है। उसमें राग का त्याग पर के निमित्त से होता है— **स्वस्यातिसर्गो दानम्।** पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में 'स्व-परानुग्रहहेतोः' कहकर त्याग धर्म को स्पष्ट किया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने समस्त द्रव्यों से मोह के त्याग को त्याग कहा है। उमास्वामी ने बाह्य, आभ्यन्तर, उपधि, शरीर और अन्नपानादि के आश्रय से होने वाले भाव-दोष के परित्याग को त्याग माना है। पूज्यपाद और अकलंक ने सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग माना है। कुमारस्वामी ने मिष्ट भोजन, राग-द्वेषादि उत्पन्न करने वाले उपकरण और ममता भाव को उत्पन्न करने में होने वाले निमित्त रूप वसति के त्याग करने को त्याग कहा है। अभयदेवसूरि और सिद्धसेनगणि ने भी लगभग इसी प्रकार त्याग की व्याख्या की है।

आगमों में त्याग के साथ ही प्रत्याख्यान शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जो समानार्थक है। उत्तराध्ययन[१] में नव प्रकार के प्रत्याख्यानों की चर्चा आई है— संभोग (मण्डली भोजन), उपधि, आहार, आहार कषाय, योग, शरीर, सहाय, भक्त (भोजन) और सद्भावना प्रत्याख्यान। भगवती में प्रत्याख्यान को फल संयम बताया गया है। ठाणांग (स्थानाङ्ग ४.३१०) में चार प्रकार के त्याग का उल्लेख है— मन, वचन, काय और उपकरण त्याग। इनका सम्बन्ध साधुओं के भोजनादि दान से जोड़ा गया है।

इन उल्लेखों से पता चलता है कि त्याग में वैराग्य-भावनापूर्वक शुभ-अशुभ योगों का त्याग किया जाता है और संपत्ति आदि का दान दिया जाता है। शुद्धोपयोग

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा से शुभ प्रवृत्तियों के प्रति भी राग छोड़ दिया जाता है। श्रावकों के लिए दान, पूजा, अभिषेक, अतिथि-सत्कार आदि कर्तव्यों की गणना की गई है, जो लोभ को शिथिल करते हैं और अहं के विसर्जन में कारण बनते हैं।

त्याग और दान

जिनसेनाचार्य ने सभी प्रकार के दानों को अभयदान के अन्तर्गत रख दिया है। मन्दिर आदि प्रतिष्ठान वीतरागता की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं और व्यक्ति को संसार से निर्भय बना देते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में आयी निर्भरता सभी गुणों के लिए आधारभूमि बन जाती है। भय के तीन क्षेत्र हैं— रोग, मौन और बुढ़ापा। जिन्हें अध्यात्म से कोई रस नहीं, प्रेम नहीं, वे इन तीनों प्रकार के भयों से ग्रस्त रहते हैं। पर अध्यात्म रस में डूबे हुए महात्मा बिलकुल निर्भय रहते हैं। सुकरात को कभी मृत्यु का भय नहीं रहा। रवीन्द्रनाथ टैगोर को कोई मारने आया तो उन्होंने कहा— "रुको, अभी पत्र पूरा कर लूं।" सुनकर मारने की तैयारी करने वाला चरणों में गिर गया।

त्याग-धर्म के साथ अन्तर्चेतना का स्फुरण सम्बद्ध है। कहा जाता है, एक ज्योतिषी ने भिखारी के घर को खुदवाकर रत्नभण्डार होने की सूचना दी। यह कथा इस ओर संकेत करती है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक अन्तर्चेतना है, जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की ओर साधक को लगा देता है। किन्तु इसके लिए उसे अपनी वृत्तियों की भी गहरी खुदाई करनी होगी और उपवास व संकल्प शक्ति का विकास करना होगा।

अभय बिना कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं बन सकता, इसलिए अभय को प्रणाम किया गया है— णामोत्थुणं अभयदयाणं। जब तक शरीर से मूर्च्छा है, तब तक भय बना रहता है। भय से ही पलायन होता है। पर पलायन करना उचित नहीं है। यदि व्यक्ति शरीर पर चिन्तन करे तो उसमें न मूर्च्छा होगी, न भय होगा और न वह पलायन करेगा। राग-द्वेष भी विगलित होने लगेगा।

त्याग करने वाले वीतरागी साधु का सत्संग आध्यात्मिकता के उन्मेष के लिए आवश्यक है। उनका उपदेश, प्रवचन सुनकर व्यक्ति अपना आभामण्डल बदल सकता है। वह ज्ञानदान, आहारदान, औषधिदान और अभयदान देकर अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है।

अन्धकार से प्रकाश में लाना, अंधे को ज्योति देना ज्ञानदान है। पाठशालायें, महाविद्यालय, साहित्य प्रकाशन संस्थायें आदि खोलकर साक्षरता के अभियान को तेज किया जा सकता है। भटकते व्यक्ति को सत्पथ पर लाना अनुपम पुण्य कार्य है। भूखों को भोजन देना अथवा साधुओं को आहार देना आहारदान है। चिकित्सालयों की स्थापना

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना औषधिदान है और पशु-पक्षियों की सेवा करना, ऐसी व्यवस्था करना कि कोई उनका शिकार न कर सके, अभयदान है।

ये दान किसी भी आसक्ति के साथ नहीं दिये जाने चाहिए। आसक्तिपूर्वक दिया गया दान निरर्थक होता है। त्याग धर्म है और दान पुण्य है। पर-पदार्थ का त्याग तो हो सकता है, पर दान नहीं हो सकता। नदी निर्मल होती है त्याग से। तेनसिंह चढ़ा भार हलका कर। मुक्ति के लिए भी संसार सागर त्यागकर अपने परिग्रह का भार हलका कर प्रस्थान करना चाहिए।

सांसारिक आसक्ति जोंक के समान खून चूसने वाली होती है। आसक्ति ही दो दिलों में भेद पैदा कर देती है। धन की चाह में भाई अपने भाई का गला काटने को तैयार हो जाता है। न्यायालयों की सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते पीढ़ियाँ दर पाढ़ियाँ अस्त हो जाती हैं, पर मुकदमों की श्वासें बन्द नहीं हो पातीं।

त्याग और ग्रहण के बीच कभी-कभी अन्तर्द्वन्द्व चल जाता है। त्याग जब परिपक्व नहीं होता तो साधक का मन संसार में वापिस आने की ओर चंचल हो उठता है। भर्तृहरि और शुभचन्द्र तपस्वी हो जाते हैं, पर ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व में भर्तृहरि सही रास्ता नहीं अपना पाते। भर्तृहरि साधना कर ऐसी स्वर्ण रस सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, जिससे पत्थर भी सोना हो जाता है। शुभचन्द्र के पास वे रस भेजते हैं, यह सोचकर कि शुभचन्द्र दिगम्बर मुद्रा में दरिद्र हैं, अत: इस रस से वे स्वर्ण बनाकर धनी हो जायेंगे। शुभचन्द्र ने उस रस को यों ही फेंक दिया और कहा कि यदि सोना ही चाहिए था तो तपस्या क्यों की। अन्तत: भर्तृहरि को शुभचन्द्राचार्य सन्मार्ग पर ले आये।

राग-द्वेषादि विकारों का त्याग कर देने पर इल्म, दौलत और शराफत एक साथ कैसे रह सकते हैं। कषायमुक्ति: किलमुक्तिरेव। दौलत का अर्जन करने के बाद यदि विसर्जन नहीं किया जाता तो वह दो लातें देकर घर के बाहर निकल जाती है। विसर्जन के साथ कोई इच्छा नहीं जुड़ी रहनी चाहिए। निष्काम दान और याचना के सन्दर्भ में वरतन्तु-कौत्स का उदाहरण प्रसिद्ध ही है।

त्याग वस्तुत: पूरे मन से होना चाहिए और स्थिर होना चाहिए। जैसी करनी वैसी भरनी का ध्यान रखते हुए त्याग के वास्तविक रूप पर विचार करना चाहिए। इससे विचारों की पवित्रता और दूसरे की दृष्टि का आदर करने की प्रकृति का निर्माण होगा। धनार्जन यदि शुद्ध साधनों से नहीं होगा तो धन की दुर्गति ही होगी। साध्य और साधन की पवित्रता त्याग का मूल रूप है।

पवित्र हृदय से उद्भूत दान देने के संस्कार जीवन के अन्तिम समय में भी नहीं छूटते। कर्ण का उदाहरण हमारे सामने है। रथचक्र के धंस जाने पर असहाय अवस्था

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अर्जुन ने जब उसे बाणबिद्ध कर दिया तब भी उसने विप्र वेषधारी कृष्ण को अपना स्वर्णदन्त काटकर दान दे दिया। कवचदान तो उनका प्रसिद्ध ही है। इस तरह के ढेरों उदाहरण हमारे इतिहास में भरे पड़े हुए हैं। सामाजिक कल्याण के लिए महर्षि अंगिरस के माध्यम से बालक उत्तंक के जैसे आत्मोत्सर्ग के उदाहरण भी स्मरणीय हैं।

त्याग और इन्द्रियवृत्ति

इन्द्रियाँ संवेदनशील होती हैं। वे बाह्य पदार्थों पर घूमकर सूचनायें एकत्रित कर मन के साथ उनमें रमण करती हैं। इस रमण की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ चेतना पर हावी रहती हैं, जिससे आसक्ति-भोग का संसार गहरा होता जाता है। पर यदि चेतना इन्द्रियों पर हावी है और इन्द्रियाँ चेतना का अनुसरण करती हैं, तो वह त्याग है।

इन्द्रियों का दास होने पर हमारी सारी वृत्तियाँ भोग की ओर दौड़ पड़ती हैं, अतृप्त होने पर स्वप्न और कल्पना का जाल मन बुनने लगता है। स्वप्न हमारे मन का ही विस्तार है। निर्बाध और स्वतन्त्र होकर स्वप्न-लोक में विचरण करना भोगी की वृत्ति बन जाती है। इन्द्रियाँ पदार्थ का स्पर्श करती हैं और हमारा मन उस स्पर्श में आसक्त हो जाता है।

पाँचों इन्द्रियों का क्षेत्र अलग-अलग है। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र अपने-अपने विषय पर घूमते हैं इसलिए परस्पर विरोधी भी हैं। उनकी यह परस्पर विरोधी वृत्ति एक जटिल और दुःखदायी स्थिति में पहुँचा देती है। आंख जिसे सुन्दर मान रही है, नाक उसे स्वीकार करे यह आवश्यक नहीं है। वस्तु सुन्दर है, पर वह कड़ुवी है और दुगर्न्धित है तो उसे न रसनेन्द्रिय स्वीकार करेगी और न घ्राणेन्द्रिय समीप जायेगी। तब दुःख उत्पन्न होगा, मन संघर्ष करेगा और मन की प्रबलता के साथ उस विशेष इन्द्रिय की विषयवृत्ति प्रकट होगी।

इन्द्रियाँ विषय के ऊपर दौड़ लगाती हैं और हमारा मन उन्हें भीतर ले जाना चाहता है। उन्हें भीतर ले जाने की वृत्ति में हमारी जागरूकता, चुनाव और सम्यग्दृष्टि नहीं रही तो त्याग हो ही नहीं सकता। मन तो कचड़े की पेटी है। सब कुछ उसमें चला जाता है। भीतर किसे ले जाना है, यह हमारे विवेक पर निर्भर होना चाहिए। इसलिए मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है।

परिग्रही व्यक्ति का संसार आकलन और संग्रह तक ही सीमित होता है उसकी तिजोरी भरी रहनी चाहिए, इसी में उसे सुख मिलता है। वह तिजोरी सोने से भरी हो या पत्थर से, यदि उसका उपभोग नहीं होता है तो सोने या पत्थर में क्या अन्तर है? परिग्रही को पकड़ होती है, उसमें उपयोगी वृत्ति नहीं होती। यही पकड़ वस्तुतः उसकी दरिद्रता या गरीबी का लक्षण है। वस्तु उस पर हावी है। उसे वह छोड़ नहीं सकता।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग में वस्तु हावी नहीं रहती, उसकी छोड़ने की वृत्ति मुख्य रहती है। छोड़ने में, त्याग में उसे आनन्द आता है। दान देने में, आसक्ति छोड़ने में उसे प्रसन्नता होती है। उसको याद रखने की भी उसे आवश्यकता महसूस नहीं होती। उस त्याग में भी राग हो जाये तो फिर त्याग ही कहाँ? जहाँ सम्मोहन होगा वहाँ त्याग हो ही नहीं सकता।

मूर्च्छा और त्याग

मूर्च्छा का तात्पर्य है वस्तु की कीमत हम से अधिक हो जाना। धनी होने का अर्थ सम्पत्ति को मात्र इकट्ठा करने से नहीं है, उसे अपने से बाहर नहीं होने देने से है। पैसा कमा लेने के बावजूद जो उसे छोड़ नहीं पाता, दान नहीं कर पाता वह अमीर नहीं, गरीब है। पकड़ गरीबी का लक्षण है, क्योंकि आप उसे बाँट नहीं पा रहे हैं, वस्तु पर आपका कोई अधिकार नहीं है। इसलिए दान करने वाला ही सही धनी कहा जाना चाहिए। सही धनी वह है जो त्याग करता है, पर उसकी शेखी नहीं बघारता, सूची बनाकर नहीं रखता।

त्यागवृत्ति से दूर रहने वाला व्यक्ति आशा से बँधा रहता है। सदैव वह आशा लगाये रहता है कि इससे अभी और अधिक पाना है। इसलिए वह दुःखी रहता है। गरीब व्यक्ति दुःखी नहीं रहता, वह कष्ट में रहता है। प्रयत्न करने पर भी वह कुछ नहीं पाता। आशा करना विषाद को निमन्त्रित करना है। एक की पूर्ति हो जाने पर दूसरी की आकांक्षा दौड़ पड़ती है और यह तांता लगा रहता है, कभी खत्म नहीं होता। इसलिए दुःखी होना उसका स्वभाव बन जाता है। वस्तुतः आशाजन्य दुःख इन्द्रधनुष-सा होता है जो पास आने पर खो जाता है। आकाश को कभी छुआ नहीं जा सकता भले ही वह कहीं पृथ्वी से छूता हुआ दिखे। इसी तरह आशा-वासना कभी तृप्त नहीं हो पाती। अतृप्त होने से दुःख का सागर बढ़ता ही रहता है।

धन की उपयोगिता है मूल आवश्यकता की पूर्ति हो जाना। वस्तु का आवश्यकता से अधिक होना मिट्टी के समान है। पानी की उपयोगिता प्यास शान्त होने तक रहती है। प्यास शान्त होने पर वह निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति जब अनावश्यक रूप से वस्तु इकट्ठा करने लगता है, तब उसका लोभ काम करने लगता है। फिर वह साधन नहीं, साध्य बन जाता है। अब जब साध्य बन जाता है, तब व्यक्ति कंजूस हो जाता है, मात्र संग्रह की वृत्ति हो जाती है। वह विसर्जन नहीं कर पाता। इसलिए धनी प्रायः कंजूस हुआ करते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि बाहर का हमारा समूचा वातावरण हमारे अन्तर की वृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा अनजाने ही वह करता रहता है। अचेतन रूप में उसकी आदत काम करती रहती है। हम इसीलिए दूसरे के दोषों को देखने के तो

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदी हो जाते हैं, पर अपने दोष नहीं देख पाते, क्योंकि अपने दोष अचेतन में चले जाते हैं। इसलिए सन्तों ने कहा है— 'निन्दक नियरे राखिए, आंगन कुटी बनाय।'

भीतर जब खालीपन होता है तब लोभ उत्पन्न होता है। यह लोभ ऊपरी रहता है, क्योंकि अन्दर का खालीपन धन-सम्पत्ति से नहीं भरा जाता। अन्तर तो भरा हुआ ही है, हम उसे समझ नहीं पा रहे हैं। जो भरा है उसे हम खाली मान रहे हैं। आत्मा में कोई वस्तु रहती नहीं, इसलिए वह खाली दिखती है, पर वह खाली नहीं है, अनन्त गुणों का वह संग्रह है, जिसे लोभी व्यक्ति देख नहीं पाता। साधु भी यदि आत्मद्रष्टा नहीं है तो वह लोभी है, गृहस्थ है— "जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से।"

उत्तम त्याग वह है, जहाँ दान में कोई राग-द्वेष नहीं हो। दान यदि अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए किया गया हो, पत्थर पर नाम लिखा कर अमर बनने के लिए किया गया हो, तो वह दान उत्तम त्याग नहीं है, मूर्च्छापूर्वक विसर्जन मात्र है। ऐसा दान तो एक सौदा है व्यापार है, इसलिए कर्म-निर्जरा का कारण नहीं कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

- णिव्वेग तियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
  जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिं देहि।। — वा०अणु० ७८।
- त्यागो दानं, तच्छक्तितो यक्षविधि प्रयुज्यमानं त्यागः। — स०सि०, ६-२४।
- जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवमरणं रायदोससंजणयं।
  वसदिं ममत्तहेदुं चायगुणो सो हवे तस्स।। — का०अनु० ४०१।
- चागो णाम वेयावच्चकरणेण आयरियो वज्झयादीणं महती कम्मनिज्जरा भवइ--। दशवै०चू० १, पृ० १८।
- परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः — तत्त्वार्थवा० ६.२४.६.
- आहाराभयज्ञानानां भवाणां विधिपूर्वकमात्मशक्त्यनुसारेण पात्राय दानं शक्तितस्त्याग उच्यते— तत्त्वार्थवृत्ति श्रुत, २.२४.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२

निर्ममत्व की ओर बढ़ना ही आकिञ्चन्य है

अर्थ और प्रतिपत्ति

त्याग का आचरण करने के बाद साधक के पास स्वयं के अतिरिक्त बचता ही क्या है? वह अपरिग्रही हो जाता है। सांसारिक माया जाल में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती, वह मात्र एकत्व पर मनन करता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार— सभी प्रकार से निःसंग होकर सुख-दुःख देने वाले आत्म भावों का निग्रह कर निर्द्वन्द्व रहना आकिञ्चन्य है। उमास्वाति, पूज्यपाद आदि आचार्यों ने भी "निर्ममत्व का होना आकिञ्चन्य है" ऐसा माना है। कुमारस्वामी ने कहा है कि जो लोक-व्यवहार से विरक्त मुनि चेतन-अचेतन परिग्रह को मन, वचन, काय से सर्वथा छोड़ देता है उसे आकिञ्चन्य धर्म होता है। स्थानाङ्ग (४.३५३) में यह अकिञ्चनता चार प्रकार की बताई गई है— मन, वचन, काय और उपकरण की अकिञ्चनता। इसका तात्पर्य है मन, वचन, काय और उपकरण की निष्परिग्रहणता में ही एकत्व फलता-फूलता है।

इस अवस्था तक आते-आते साधक अपने चिन्तन और दृष्टि के माध्यम से स्थिरतापूर्वक यह विचार करने लगता है कि संसार में जो आया है उसका जाना निश्चित है। दुनियाँ में सिकन्दर, हिटलर जैसे अनगिनत शक्तिशाली सम्राट हो चुके हैं, जिन्होंने लाख कोशिश की पर उन्हें जिन्दगी का एक क्षण भी उधार नहीं मिल सका। मृत्यु देवता ने दरवाजे पर जब भी दस्तक दी, वह खाली हाथ नहीं गया और यह भी उतना ही सत्य है कि कोई भी मुट्ठी बाँधकर नहीं ले गया। उसकी सारी सम्पत्ति और सारे पारिवारिक मित्र यहीं रह गये, कोई साथ नहीं गया। साधक की संवेग और वैराग्य भावना यही सोचकर दृढ़तर होती जाती है और सांसारिक पदार्थों से मोह छूटता चला जाता है।

मोह, ममता इतनी प्रबल होती है कि जल्दी से सरलतापूर्वक वह पीछा नहीं छोड़ती। इसलिए सबसे पहला काम साधक का यह रहता है कि वह मन को संयमित करे और ऐसे निमित्तों से बचे जो उसे आसक्ति में जकड़ने के लिए खडे हुए हों। उसकी अन्तर्चेतना इतनी जाग्रत हो जाय कि निमित्त सामने रहने पर भी वह मन को आकर्षित

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर सके। स्थूलभद्र ने वेश्या के घर चातुर्मास किया और वेदाग वापिस आये। इतना ही नहीं उस वेश्या को भी अपने संवेगी रंग में रंग लिया। जबकी ईर्ष्यालु दूसरा साधु भ्रष्ट हो गया। इसलिए बाह्य निमित्तों से बचने के साथ ही आन्तरिक कुभावों को पनपने न दे और सद्भावों की खेती को प्रोत्साहन मिलता रहे।

साधना का मूल उद्देश्य

साधना का मूल उद्देश्य है क्षमता को जाग्रत करना। यह क्षमता तब तक जाग्रत नहीं होगी जब तक हमें चैतन्य का सही अनुभव नहीं होगा और आत्म-साक्षात्कार नहीं होगा। सबसे अधिक नजदीक हमारा अपना शरीर है। उसके अंग-प्रत्यंगों पर गहराई से विचार करें और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए यह देखने का प्रयास करें कि शरीर के बीच बसी हुई आत्मा शरीर से बिलकुल अलग है। उन दोनों के स्वभाव भी बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं। एक समझौते के अन्दर वे एक साथ रहने के लिए कालबद्ध हैं। हंसना, रोना, सुख, दुःख आदि क्रियायें शरीर की नहीं हैं, पर वे उसके माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। आत्मा स्वरूपत: परम विशुद्ध और अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति से भरपूर है, पर कर्मों के कारण उसका यह स्वभाव आवृत्त हो गया है। जैसे ही उसका यह आवरण हट जाता है, देह और आत्मा पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, वे अपनी मूल प्रकृति में पहुँच जाते हैं। यह यात्रा बहुत लम्बी है। पाथेय इकट्ठा करना होगा उस पर चलने के लिए। तदर्थ 'तज्जीवतच्चछरीरवाद' को छोड़कर भेद-विज्ञान पर मन को टिकाना होगा।

संसार का स्वभाव विषमता है। विषमता में समता पैदा करना सरल नहीं होता। सभी धनी हो जायें और सभी सुखी हो जायें, यह सम्भव नहीं। संसार में धनी होने और सुखी होने का अर्थ ही कुछ दूसरा है। आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे मात्र सुखाभास कहेंगे, क्योंकि उस धन और सुख के नीचे बारूद की सुरंगे बिछी हुई हैं, दुःख की परतों पर परतें लगी हुई हैं।

संसारी अतृप्त वासना से पीड़ित रहता है और उसी की तृप्ति में दिन रात आपा-धापी करता रहता है। फिर भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि तृप्ति का पेट अगाध रहता है। जितनी तृप्ति होती जाती है, उसका पेट उतना ही गहरा और फूलता चला जाता है। इस अतृप्ति को साधक अपनी सुलझी चेतना से देखता है और उसके नग्न सत्य का आभास पाकर वैराग्य की ओर मुड़ जाता है। उसके अन्तर में वैराग्य भावना का विकास होता है और समाधि के माध्यम से वह चित्त में फैली गन्दगी को दूर कर उसे सुस्थिर करता है। उसके सारे उपाय और साधन सम्यक् हो जाते हैं, पारे के समान चिन्तन होने के बावजूद मन को बांधने की कोशिश करता है और अन्ततः वह बंध भी जाता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार एक महास्वप्न है, जिसकी वैसाखी के सहारे संसारी सुखी होने की कल्पना करने लगता है। उसका सारा जीवन एक नाटक और अभिनेता का रहता है जो वास्तविकता से मेल नहीं खाता। अभिनय के दौरान यदि उसे लगातार यह आभास बना रहे कि वह अभिनय कर रहा है, वास्तविकता कुछ और है तो उसका चित्त एकत्व भावना से आप्लावित हो जायेगा और स्वयं को संसार में रहते हुए भी संसार रूपी जल से भिन्न कमलवत् मानता रहेगा।

संसार कर्मों का फल है। आत्मचिन्तन के बिना सुख-दुःख की अनुभूति विषादमय हो सकती है। तृष्णा उस विषाद को और भी गहरा बना देती है। इसी तृष्णा के कारण कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व की भावना से संसरण और लम्बा होता चला जाता है। भोगासक्त व्यक्ति पल भर के लिए वहाँ से बाहर निकलकर विवेक मार्ग नहीं पकड़ पाता। फलत: रुदन और क्रन्दन के अतिरिक्त उसके हाथ कुछ भी शेष नहीं रह जाता। "भोगो न भुक्त: वयमेव भुक्ता: कालो न याता वयमेव याता" की स्थिति बन जाती है।

इस स्थिति से बचने के लिए साधक को धर्म का चिन्तन करना चाहिए। जन्म स्मरण, स्वप्न-दर्शन, देव-दर्शन आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन में तीव्रता आती है और प्रज्ञा की उपलब्धि हो जाती है। प्रज्ञा से अलौकिक चेतना और अनुशासन का जन्म होता है, जो जीवन की दिशा को बिल्कुल मोड़ देता है। शरीर के प्रति प्रज्ञावान् की आसक्ति समाप्त हो जाती है, सांसारिक पदार्थों के प्रति अनुप्रेक्षाओं की भावना से मोह कम हो जाता है और आत्मा के प्रति ध्यान के माध्यम से चिन्तन परिष्कृत हो जाता है।

'अहम्' और 'मम' का त्याग

आकिञ्चन्य में अहं और मम का विकल्प छिन्न-भिन्न हो जाता है। स्व-पर भेदविज्ञान से मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय आदि विकारभाव ध्वस्त हो जाते हैं और आत्मभाव पाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

व्यावहारिक क्षेत्र में भी अकिञ्चनभाव अत्यन्त उपयोगी है। उसकी भावना आने पर संघर्ष और प्रतिक्रिया के भाव स्वत: समाप्त हो जाते हैं, स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन जाग्रत हो जाता है और समतावादी दृष्टि पनपने लगती है। वीतराग स्वरूप का चिन्तन ही आकिञ्चन्य अर्थ का फल है।

'अहम्' और 'मम' मिटे के बिना आकिञ्चन्य भाव नहीं आ पाता। इस भाव में परिग्रह की सत्ता नहीं रहती। परिग्रह के कारण ही संसार में भटकना होता है। जन्म-मरण की प्रक्रिया की समाप्ति परिग्रह की समाप्ति के बिना नहीं हो पाती। इसलिए परिग्रह

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सबसे बड़ा पाप माना गया है। दसवें गुणस्थान तक परिग्रह बना रहता है। यही उसकी तीव्रता का निदर्शन है।

भरत-बाहुबली का युद्ध परिग्रह का ही जनक है। संसार की इतनी माया से भी भरत को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने अपने ही भाई बाहुबली पर आक्रमण करना चाहा। बाहुबली भी 'मैं' और 'मम' से जब तक छुटकारा नहीं पा सके तब तक उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सका।

कुछ लोग सोचते हैं अर्जन से ही विसर्जन होगा। इसलिए वे पैसा कमाने में लगे रहते हैं और फिर अपने ढंग से उसका विसर्जन करते हैं। यह बात सही है कि विसर्जन अर्जन के बिना नहीं होता। पर यह भी सही है कि अर्जन में जो मानसिक सन्ताप होता है वह विसर्जन से पूरा नहीं होता। यह तो वैसी ही बात हुई जैसे पहले कीचड़ में अपने पैर खराब कर लेना और फिर उन्हें पानी से साफ करने की बात सोचना। इससे तो अच्छा यही है कि हम कीचड़ में पैर ही नहीं रखे— "प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।"

तत्त्वार्थसूत्र के नवम अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन मिलता है। कर्मों का संवर और उसकी निर्जरा के लिए अप्रमादी होना बहुत आवश्यक है। कहा जाता है— भारण्ड पक्षी मृत्यु से इतना भयभीत रहता है कि वह कभी सोता नहीं है। सदा उड़ता ही रहता है यह सोचकर कि यदि वह सोयेगा तो मर जायेगा। साधक भी भारण्ड पक्षी की तरह मृत्यु का चिन्तन करता है और अप्रमादी होकर, त्रिगुप्तियों और पंच समितियों का पालन कर धर्म-साधना करता है।

समय की धारा निरपेक्ष रहती है। वह किसी के लिए रुकती नहीं। यदि कोई यह सोचे कि उसका मुर्गा यदि बाग नहीं देगा तो सुबह नहीं होगी, तो यह उसकी मूर्खता ही होगी। मुर्गा बाग देकर सुबह होने की सूचना तो दे सकता है, पर सुबह होने के लिए कोई रोक नहीं सकता।

तीर्थङ्कर महावीर ने गौतम को अप्रमादी होने का उपदेश देकर उनके मोहभाव को कम किया। बुद्ध ने सारिपुत्र से कहा कि अब तुम मेरे प्रति भी राग छोड़ो और संसार से पार हो जाओ। यह है आकिंचन्य भाव की जागृति। यह जागृति अचेतन पदार्थ से ममत्व तोड़कर चेतन पदार्थ रूप आत्मा की साधना करने से होती है। अचेतन पदार्थ के प्रति लगाव ही हमारे दुःख का कारण है और फिर उसी दुःख में हम परमात्मा का स्मरण करते हैं। आकिंचन्य भाव में इस दुःख के मूल कारण रूप अचेतन के प्रति लगाव ही समाप्त हो जाता है। वह कमल के समान निर्लिप्त हो जाता है, वासना का दौर समाप्त हो जाता है और भीतर की ज्योति से बाहर के प्रति मोह टूट जाता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम आकिञ्चन्य अवस्था में साधक अप्रमादी हो जाता है। उसके मोह के कारण विगलित हो जाते हैं, इसलिए दुःख की सारी स्थितियाँ भग्न हो जाती हैं। ममत्व के कारण दुःख आता है। जब ममत्व ही चला गया तो दुःख कहाँ से आयेगा? पर-पदार्थों से 'मेरे' का भाव यदि तिरोहित हो गया, तो दुःख का नामोनिशान नहीं रहेगा। मात्र आनन्द का प्रवाह बहेगा, यहाँ तक कि मन-विचार भी समाप्त हो जायेगा।

इस अवस्था में अन्तर और बाहर समान हो जाते हैं। बाह्य आचरण अच्छा हो और अन्तर में ज्वालायें धधक रही हों तो फिर दुर्वासा ऋषि की स्थिति आ जायेगी। साधु का आचरण यदि मुखौटा हो, अन्तर नहीं बदलेगा। यही कारण है कि कभी-कभी न चाहते हुए भी हम अपशब्द निकाल देते हैं। अन्तर यदि बदल गया, शुद्ध हो गया तो बाह्य स्वतः शुद्ध हो जायेगा। यदि किसी कारणवश अशुद्ध हो भी गया तो वह क्षणिक ही रहेगा। इसलिए जैनधर्म समग्रता का पक्षधर है। अन्तर और बाहर दोनों समान रूप से शुद्ध होना चाहिए और साधक का चिन्तन अडिग होना चाहिए कि सांसारिक पदार्थों में उसका कोई राग नहीं है। आत्मधर्म के अतिरिक्त उसका और कोई तत्त्व नहीं है। यही उसका आकिंचन भाव है।

सन्दर्भ

- होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
  णिद्दं देण दु वट्टदि अणयारो तस्सऽकिंचण्हं।। — बा०अणु० ७९।
- तिविहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
  लोयववहारविरदो णिग्गंथतं हवे तस्स।। — का०अणु० ४०२।
- उपान्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः आकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चनास्तीति अकिञ्चनः तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम् — स०सि० ९-६; अन०ध०स्वो०टीका० ६.५४।
- शरीरधर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम्। — त०भा० ९-६।
- ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम् तत्त्वार्थवा. ९.६.२१.
- उपानेष्वपि शरीदादिषु संस्कारापोहनं नैर्मल्यं वा आकिञ्चन्यम् — त०सुखवो, ९.६.
- नास्ति अस्य किञ्चन किमपि अकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्। निजशरीरादिषु संस्कारपरिहाराय ममेदमित्यभिसन्धिनिषेधनमित्यर्थः — त०वृत्ति०श्रुत०, ९.६.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३

आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है

अर्थ और प्रतिपत्ति

आकिञ्चन्य धर्म का पालन करने बाद साधक निष्परिग्रही हो जाने के कारण आत्मरमण करने की स्थिति में आ जाता है। ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा। अनगारी साधक आत्मा में रमण करता है, आत्मचिन्तन करता है और सागार या श्रावक वर्ग अपनी कामवासना को सीमित करने के लिए ब्रह्मचर्याणुव्रत को धारण कर लेता है। साधक मुनि वर्ग पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हैं और उपासक वर्ग एक देश ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है, वह स्वदार संतोषी अर्थात् परदारत्यागी होता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार स्त्रियों के सब अंगों के देखते हुए भी उनमें दुष्टभाव नहीं करना ब्रह्मचर्य है। उमास्वाति ने इसे और अधिक स्पष्ट कर यह और कह दिया कि इष्ट मनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, विभूषादि से आनन्दित न होना ब्रह्मचर्य का विशेष गुण है। व्रतों के परिपालन के लिए गुरुकुल में वास करना ब्रह्मचर्य है। पूज्यपाद ने इसमें अनुभूत स्त्री का स्मरण न करना, स्त्री विषयक कथा-श्रवण का त्याग करना और स्त्री से सटकर सोने या बैठने का त्याग करना और जोड़ दिया है। अकलंक, सिद्धसेन गणि, कुमार कार्तिकेय आदि आचार्यों ने इसी कथन का समर्थन किया है।

इन सारी परिभाषाओं का केन्द्रबिन्दु है काम-गुणों पर विजय प्राप्त करना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के उपभोग में निरपेक्ष हो जाना, तटस्थ हो जाना और समभाव द्वारा उन सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ब्रह्मचर्य धर्म है। इसे निरतिचारपूर्वक परिपालन करना आवश्यक है। पाँच काम गुणों में आसक्ति के लिए क्रमशः प्रसिद्ध हैं— हरिण, हाथी, पतंगा, भ्रमर और मछली। कामगुणों की आसक्ति के कारण ये प्राणी अपनी जान गंवा देते हैं। यदि पाँचों कामगुण किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जायें तो उसकी क्या स्थिति होगी, विचारणीय है।

तन्त्र परम्परा और जैन चिन्तन

तन्त्र परम्परा में अनुभव करने के बाद ही उससे मुक्त होने की बात कही गई है, पर जैन परम्परा इसके विपरीत है। उसका मन्तव्य है कि इस प्रकार का अनुभव एक आदत का रूप ग्रहण कर लेता है, जिससे मुक्त होना सरल नहीं होता। अतः आदत

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डालने का मौका ही न आने दिया जाये। आदत बनने के पहले ही उस ऊर्जा को ऊपर उठने का अवसर दिया जाये, तो अधिक अच्छा है।

कांट ने तो ब्रह्मचर्य में हिंसा होने का विचार व्यक्त किया है, जो सही नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से सम्भोग में दस करोड़ जीवों का घात होता है। उनमें से एक ही बाहर आ पाता है। अत: अब्रह्मचर्य को ही हिंसा कहा जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्यक्ति को स्वतन्त्र बना देता है। शरीर का शृङ्गार दूसरों के लिए किया जाता है। विपरीत का आकर्षण होता ही है। आत्मा की खोज में विपरीत का कोई उपयोग नहीं होता। इसमें सम्यक् सन्तुलन की आवश्यकता होती है। स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन भी उपयोगी नहीं रहता। सम्यक् और शुद्ध शाकाहारी आहार हो, तभी ब्रह्मचर्य व्रत का संरक्षण हो सकता है। इस उद्देश्य को पाने के लिए इन्द्रिय वासनाओं पर विजय प्राप्त करना और आहार में रस-त्याग करना बहुत ही आवश्यक है। रस-त्याग किये बिना आत्मानुभव नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य और आधुनिक मनोविज्ञान

वस्तुत: शक्ति एक है। उसका उपयोग करना हम पर निर्भर करता है। हमारी वृत्ति और प्रवृत्ति उस शक्ति को नीचे ले जाये या ऊपर ले जाये। इसका निर्णय हमें स्वयं करना पड़ेगा। योग में काम का अनुभव नहीं किया जाता, पर तन्त्र अनुभव के रास्ते से गुजरना आवश्यक मानता है। महावीर की दृष्टि में काम का अनुभव आदत का रूप ले लेता है और फिर आदत से मुक्ति पाना सरल नहीं होता। हमारा अधिकांश जीवन आदत पर ही चलता है। काम भी एक आदत है, रस है। यदि उसका अनुभव ही न किया जाये तो फिर आदत बनने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आज का मनोविज्ञान कहता है कि बालक पर प्रारम्भिक अवस्था में जैसे संस्कार गिर जायें, सारे जीवन फिर वह उन्हीं संस्कारों से जीता है। अधिक से अधिक सात साल तक बच्चे को संस्कारित किया जा सकता है। उसके बाद उसे बदलना सरल नहीं होता। गर्भाधान से ही हमारे संस्कारों की नींव पड़ जाती है। इसलिए उस पथ से चलना ही नहीं चाहिए जहाँ गड्ढे हों, गिरने का भय हो। महावीर इसलिए इस प्रकार के अनभव से दूर रहना ही हितकर मानते हैं।

काम आसन्न केन्द्रीय भाव है। हमारी अधिकांश प्रवृत्तियाँ उसी के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। इसलिए अनुभव पाने की व्यग्रता से मुक्त होना सरल नहीं है। इस स्थिति में एक मार्ग यह है कि व्यक्ति अनुभव पाने के लिए गृहस्थ-मार्ग का अनुकरण करे, पर अध्यात्म का चिन्तन न छोड़े। अणुव्रत की स्थापना के पीछे यही एक उद्देश्य है कि व्यक्ति कामादिक भाव को यदि न सह पाये तो सीमित होकर उसका अनुभव कर ले और वहीं से महाव्रती बनने का संकल्प करे। अणुव्रती से महाव्रती बनने का एक यह भी मार्ग है जहाँ किसी भाव का दमन नहीं किया जाता, बल्कि अनुभव के माध्यम

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से क्रमशः उसका शमन किया जाता है। महावीर के धर्म में ये दोनों मार्ग हैं, जो अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किये जा सकते हैं।

स्वानुभव की चेतना और ध्यान

धर्म का मूल आधार अनुभव की चेतना है। मृग में कस्तूरी भीतर छिपी है, पर वह बाहर दौड़ता रहता है। प्रियता और अप्रियता के कारण उसे अन्तर्जगत में छिपी सम्पत्ति का भाव नहीं होता। जब तक मूर्च्छा का कठोर आवरण मन पर से नहीं हटेगा तब तक निजता की प्रतीति नहीं हो सकती। पारसमणि पर रखा हुआ कपड़े का आवरण जब तक अलग नहीं किया जायेगा, तब तक पारसमणि सोना बनाने का काम नहीं कर सकता। अहं और मम के आवरण ऐसे ही हैं, जिनसे केवलज्ञान प्रकट नहीं हो पाता।

ब्रह्म अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए संकल्प-शक्ति का विकास करना नितान्त आवश्यक है। स्वाध्याय और चिन्तन के माध्यम से चैतन्य पर ध्यान किया जाये तो मन की चंचलता को काबू में किया जा सकता है। बोझ लादकर कोई तैराक तैर नहीं सकता, उसे निर्भर होना पड़ेगा नदी को पार करने के लिए। खाली होने की इसी क्रिया को अध्यात्म कहा जाता है। निर्विचार और निर्विकल्प ध्यान चित्तवृत्तियों से मुक्त कर देता है और प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करता है। स्वाध्याय करते-करते हमारी आस्था गहरी होती जाती है, मूर्च्छा विगलित होने लगती है और दृष्टि में विशुद्धता तैरने लगती है।

चेतना का लक्षण ही है—उपयोग या अनुभव या अस्तित्व का बोध, जहाँ 'कोऽहं' का उत्तर 'सोऽहं' में मिल जाता है। यह आत्मबोध स्वयं को पहचाने के बिना नहीं हो पाता।संघर्ष वहीं होता है, जहाँ दो पदार्थ होते हैं। नमि राजर्षि की बीमारी को दूर करने के लिए चन्दन लेप तैयार करने में चूड़ियों की कर्कश आवाज आयी। सभी महिलाओं ने सारी चूड़ियाँ उतार दीं, मात्र एक-एक चूड़ी पहने रहीं। आवाज तुरन्त बन्द हो गई। यह जानकर नमि राजर्षि का ध्यान इस तथ्य पर गया कि दो के रहने से ही आवाज आती है। अकेला रहना ही अच्छा है, श्रेयस्कर है। राजर्षि ने ध्यान का और स्वस्थ होने का सुन्दरतम सूत्र पाया।

मृत्यु का चिन्तन बेहोशी को दूर करने का अमोघ साधन है। काया का उत्सर्ग कर दिया जाता है, शरीर और चेतन अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं, तो मन वासना से स्वयमेव दूर हट जाता है। श्मशान में ध्यान करने के पीछे यही चिन्तन छिपा है कि व्यक्ति मृत्यु और पदार्थ की यथार्थता को समझें और आत्म-चेतना को जाग्रत करें। प्रातःकाल व सन्ध्याकाल भी ध्यान की दृष्टि से इसीलिए उपयोगी माना जाता है कि यह संक्रमण काल है और संक्रमण की भावधारा चिन्तन के साथ जुड़ सके।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर ही एक ऐसे चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने सबसे पहले अप्रशस्त-ध्यान की बात कही है। रागादि विकारों के साथ जो ध्यान किया जाता है उससे स्वयं की या ब्रह्म की उपलब्धि नहीं होती। कुछ शक्ति केन्द्रित ऋद्धियाँ और मन्त्र-तन्त्र प्रवृत्तियाँ ऐसी ही होती हैं जो दूसरे को नुकसान पैदा करती हैं, विनाशात्मक होती हैं या भोगोपभोग की सामग्रियाँ प्रस्तुत करती हैं। इसके विपरीत प्रशस्त-ध्यान होता है, जो रागादि विकारों को दूर करने के लिए किया जाता है। यही वास्तविक ध्यान है। इसी से साधक अपने स्वभाव में पहुँचने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही ध्यान को सामायिक कहा गया है। महावीर ने यहाँ समय का अर्थ आत्मा और टाइम (काल) दोनों किया है। वहीं साथ ही समय का अर्थ आगमशास्त्र भी निर्दिष्ट है। चिन्तक और दार्शनिक आइन्स्टीन ने हर वस्तु में तीन आयाम माने हैं— लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। इसी के साथ चौथा आयाम है समय, आत्मा और काल। चेतना की गति भी समय में ही होती है। निर्जीव पदार्थ में नहीं होती। जातिस्मरण, प्रतिक्रमण आदि तत्त्व इसी ध्यान अथवा सामायिक में होती हैं।

ब्रह्मचर्य : आत्मचिन्तन की चरित्र परिणति

ब्रह्मचर्य में संयम आदि सभी धर्मों का आकलन हो जाता है। दशलक्षणमूलक धर्मों में यह अन्तिम धर्म है, जिसे हम महापर्व की साधना का फल कह सकते हैं। काम व्यक्ति की स्वाभाविक प्रकृति है। पर ब्रह्मचर्य उससे भी अधिक आनन्द का महाकेन्द्र है जिसे संयम के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। शिव ने तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर दिया। यह पिच्युटरी ग्रन्थि को जाग्रत करने का फल है। प्राण ऊर्जा नाभि से नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो काम ग्रन्थि खुलती है और जब वह ऊपर की ओर प्रवाहित होती है तो वह ज्ञानग्रन्थि खोल देती है, जहाँ प्राण ऊर्जा का संचय होता रहता है। ज्ञानग्रन्थि खोलने का काम ब्रह्मचर्य-व्रत का है। यही उसका प्रतिफल है।

उत्तम ब्रह्मचर्य आत्मचिन्तन की चरम परिणति है, वह समूची ध्यान-प्रक्रिया और प्रशस्त भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु है, जहाँ आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है। यहीं से समाज-निर्माण का काम भी प्रारम्भ हो जाता है। अतीन्द्रिय शक्ति का जागरण भी इसी केन्द्र से होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समन्वित अवस्था का विकास भी यहीं चरम सीमा पर होता है। यही आत्मसिद्धि है।

हर इन्द्रिय वासना से जुड़ी हुई है। आज का मनोविज्ञान कहता है कि वासना का हर कोण काम से जुड़ा हुआ है। अर्थात् हर इन्द्रिय के सूत्र कामवासना से जुड़े हुए हैं। इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना सारा ध्यान इन्द्रिय वासना से हटाकर मोक्ष मंजिल पर लगा दे। इन्द्रियों को रस न मिलने पर काम-वासना स्वतः समाप्त होने लगती है। ब्रह्मचर्य को इसीलिए मुक्ति का मार्ग माना जाता है और

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे दस धर्मों में अन्तिम धर्म चरम परिणति के रूप में रखा है। ब्रह्म का अर्थ आत्मा भी है। अर्थात् इन्द्रिय वासना से पूर्णत: मुक्त हुआ व्यक्ति ही आत्मरमण कर सकता है। आत्मरमण करने वाले साधक में शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँचों काम गुणों में कोई रस नहीं रहता। उनके देखने पर भी मन में कोई कम्पन नहीं होता, ध्यान वहाँ जाता ही नहीं है। अत: रस-त्याग के बिना आत्मानुभव हो ही नहीं सकता। आत्मानुभव होने पर इन्द्रियों का रस सुखद न होकर दुःखद लगने लगता है और सच तो यह है कि समस्त दुःखों का मूल ही इन्द्रियाँ हैं। सुख यदि है भी तो क्षणिक रहता है। इसलिए संसारी व्यक्ति उसी क्षणिक सुख को बार-बार पाने की कोशिश में लगा रहता है। क्षणिक क्षणिक ही है। वह शाश्वत नहीं हो सकता। शाश्वत सुख पाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अपरिहार्य है। महावीर ने इसीलिए कहा है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, इन्द्रियों से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है, अन्तर-ध्यान करता है उसे देव, दानव, गन्धर्व आदि भी नमस्कार करते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारि नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं।।

इतिहास में महावीर प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने मानव जन्म को इतना अधिक महत्त्व दिया है और उसे दुर्लभ माना है। सभी धर्म देवों को बड़ा ऊँचा स्थान देते हैं, उनके अभिन्न सुखों की कल्पना करते हैं, पर महावीर कहते हैं कि यदि देव मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें मनुष्य जन्म लेना पड़ेगा और ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना पड़ेगा, क्योंकि परम वीतरागता और चेतना का ऊर्ध्वारोहण मनुष्य जन्म में ही हो सकता है। ऐसे निष्काम साधक के चरणों में देव भी नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य : अध्यात्म जागरण का सूत्र

ब्रह्मचर्य अध्यात्म चेतना को जाग्रत करने का अनोखा साधन है। इसमें साधक आत्मचिन्तन करता है शरीर पर विचार करता है और सांसारिक पदार्थों पर विमर्श करता है, यही अध्यात्मवाद है। इसमें शरीर और आत्मा तथा स्व और पर-पदार्थों के बीच सम्बन्ध पर गहराई से ध्यान किया जाता है। यहाँ आत्मा प्रधान और शरीर गौण हो जाता है। आत्मा चैतन्यमय है और शरीर अचेतन है। आत्मा अविनश्वर है और शरीर विनाशशील है।

अध्यात्म के मूल तत्त्व हैं— आत्मा, आत्मा की मनुष्य, देव आदि पर्यायें, पुनर्जन्म, कर्म, मृत्यु की अवश्यंभाविता, सोऽहं, कोऽहं के उत्तर की खोज। इन तत्त्वों पर जितना गहन चिन्तन निष्पक्षता और विशुद्धता से किया जायेगा, उतनी ही विवेक बुद्धि जाग्रत होगी, उतनी ही भोक्ता की सापेक्षता समझ आयेगी और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का सूत्र हाथ लगेगा।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार समस्याओं से भरा एक कंटकाकीर्ण जंगल है, जहाँ एक साधारण व्यक्ति प्रवेश करते ही भयभीत हो जाता है। पर यदि उसकी धार्मिक चेतना का निर्माण हो जाता है, बुद्धि के साथ ही विवेक जाग्रत हो जाता है तो वह निर्भयता की सीढ़ियाँ चढ़ जाता है और प्रलोभन से दूर रहकर अपने आपको जानने का प्रयत्न करता है। ऐसा निर्भय और विवेकशील व्यक्ति ही संसार की समस्याओं से दूर रह सकता है और दूसरे को भी सन्मार्ग पर ला सकता है।

धर्म की कितनी भी परिभाषायें कर दी जायें पर यदि वे हमें जीवन जीने की कला नहीं दे सकीं तो उन परिभाषाओं में अधूरापन ही रहेगा। अभय, समता और क्षमाशीलता ही धर्म है। इन्हीं से जीवन-मूल्यों की साधना होती है। उसमें सार्वजनीनता, सार्वकालिकता और सार्वदर्शिकता आती है और आत्मसाक्षात्कार का द्वार उद्घाटित होता है।

मन कोरा कागज है। हमारी भावनायें संस्कार और वृत्तियाँ उस पर चित्रित हो जाती हैं, जिससे उसकी स्वाभाविकता चंचलता द्विगुणित हो जाती है। संकल्प, विकल्प और विचारों के अन्तर्द्वन्द्वों में झूलता यह मन व्यक्ति को साधना से गिराने में कोई कसर नहीं रखता। इसलिए साधक उसे एकाग्रता की डोरी से कसकर बाँध लेता है और निर्विचार की स्थिति में पहुँचने का भरपूर प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में विशुद्ध मान्त्रिक शक्ति और आन्तरिक परीक्षण उसका विशेष सहयोगी होता है।

जीवन में आध्यात्मिकता को पल्लवित करने के लिए इन्द्रियों पर अनुशासन रखना आवश्यक है। इसके लिए आहारशुद्धि, सम्यग्योग तत्प्रतिसंलीनता और कायोत्सर्ग जैसे साधन उपयोगी माने जाते हैं। इन्द्रियों को वश में रखने वाली कथाओं से साहित्य भरा पड़ा है। बड़ी मार्मिक और हृदयवेधक ये कथायें संयम और सन्तोष की शिक्षायें देती हैं। यही संयम और सन्तोष जीवन का शृङ्गार है।

कांक्षी और आसक्त व्यक्ति तनावग्रस्त रहता है और उससे बीमारियों को आमन्त्रित करता है। अहं और मद का विसर्जन कर उससे मुक्त होने के लिए साधक को कायोत्सर्ग करना चाहिए। चिता समान चिन्ता को दूर कर शरीर के प्रति ममत्व छोड़ देना चाहिए। मानसिक एकाग्रता और ध्यान के माध्यम से तनाव-मुक्त हुआ जा सकता है। अपने आप पर नियन्त्रण स्थापित कर और अवेगों को समाप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाने से हमारी चेतना जाग्रत हो जायेगी।

जीवन की तलाश आध्यात्मिकता में हो पाती है, अन्यथा साधक निष्ठुर-सा हो जाता है। मानसिक पतन एवं चारित्रिक क्षरण के साथ संवेदन शून्यता आ जाती है। व्यक्ति वस्तु के स्वभाव पर निष्पक्ष होकर चिन्ता करे तो वह इस चारित्रिक पतन से बच सकता है और पर्यावरण दूषित होने से उत्पन्न समस्याओं से मुक्त हो सकता है,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशा और तृष्णा के कारण व्यक्ति भौतिक साधनों को एकत्रित करता है। प्रकृति के साथ क्रूर व्यवहार करता है और हिंसक साधनों का उपयोग कर सृष्टि पर प्रहार करता है। तीर्थंकर महावीर ने जिस अहिंसक, संयमित ओर मानवीय जीवन-पद्धति का सूत्रपात किया है, उसका परिपालन करने से ये समस्यायें उत्पन्न ही नहीं होती। पर्यावरण को सुरक्षित रखने और सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने में जैनधर्म ने जो अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त दिये हैं, वे निश्चित ही बेमिशाल हैं। उनका यदि सही ढंग से परिचालन किया जाये तो विश्वशान्ति प्रस्थापित होने में बड़ी मदद मिल सकती है।

भौतिकता की अन्धाधुन्ध चकाचौंध जीवन में संघर्षों को आमन्त्रित करती है। अनन्त आकांक्षायें अपनी आशा के पर बांधे आकाश में उड़ने लगती हैं और अपूर्त होने की स्थिति में धड़ाम से नीचे गिर जाती हैं, पंख कटकर पानी के बबूले जैसे बिखर जाते हैं। संसार के मायाजाल को सत्य के कटोरे में लेकर व्यक्ति घूमता फिरता है, अनेक मुखौटे लगाकर उसकी रक्षा करता है और धक्के लग जाने पर वह टूटकर बिखर जाता है। सारी जिन्दगी की यही कहानी है।

ब्रह्मचर्य किंवा अध्यात्म भीतर का दीपक है, जो इस कहानी को सही ढंग से, सही आँखों से देखता है और सूत्र देता है जीवन को सही ढंग से समझने का, उसके साथ बतयाने का। जब तक मुखौटों को अलगकर सत्य की ऋचाओं का संगीत कानों में नहीं पहुँचता, तब तक हृदय की वीणा के तार अनखुले ही रह जायेंगे और जीवन के सूत्र कटते चले जायेंगे। पर्युषण जैसे पवित्र पर्व ऐसे बिखरे सूत्रों को संयोजित करने का एक अमोघ साधन है, अपूर्व अवसर है जिसे हाथ से नहीं खोना चाहिए।

सन्दर्भ

१. सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि।। — बा०अणु० ८०।

२. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
ते जाण बम्भचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।। — भ०आ० ८७८।

३. ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्मकामविनिग्रहः।
सम्यगत्रं वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः।। — उपासका०, ८७२।

४. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः।
एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनीं पुत्रीसमाः प्रेक्षते
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्। — पद्म०पंच०, १२.२।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद : अर्थ साहित्य मण्डल, अजमेर, वि०सं० १९८६.

अनगार धर्मामृत : सं० पं० खूबचन्द, शोलापुर, १९२७.

आचाराङ्गचूर्णि : जिनदासगणि, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, १९४१.

आचाराङ्गसूत्र : आत्माराम जी, आत्माराम जैन प्र० समिति, लुधियाना, १९६३-६४.

आदिपुराण : आचार्य जिनसेन, सं० पं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३.

आप्तमीमांसा : सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी.

आवश्यकचूर्णि : ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, १९२८.

आवश्यकनिर्युक्ति : ला० जैन पुस्तको० फण्ड, सूरत, वि० १९७६.

उत्तरपुराण : आ० गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४.

उत्तराध्ययनसूत्र : अनु० आत्माराम मुनि, जैन शास्त्रमाला, लाहौर, १९२९.

उपासकाध्ययन : सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२.

उवासगदसाओ : व्याख्याकार आत्माराम मुनि, लधियाना,

उपनिषदों पर जैनधर्म का प्रभाव : डॉ० भागचन्द्र जैन, दिल्ली, १९९६.

ऋग्वेद : स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४०.

औपपातिकसूत्र : अभयदेवसूरिवृत्तिसहित, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९३७.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पसूत्र	:	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर.
कषाय प्राभृत	:	आ० गुणधर, भाग १, सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, १९४४.
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	:	रायचन्द ग्रन्थमाला, १९६०.
चारित्रसार	:	महावीर जी, राजस्थान, वी०नि०सं० २४८८.
चार तीर्थङ्कर	:	पं० सुखलाल संघवी
जयधवला	:	अमरावती
जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास	:	डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर, १९७७.
ज्ञानार्णव	:	रायचन्द ग्रन्थमाला, १९०७.
तत्त्वार्थसूत्र	:	अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७.
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक	:	सं० माणिकचन्द कौन्देय, बम्बई.
तत्त्वार्थभाष्य	:	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वम्बई, १९०६.
तत्त्वार्थवृत्ति	:	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९४९.
तत्त्वार्थसूत्र	:	उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा, वी०नि०सं० २४७७.
तत्त्वार्थसार	:	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, १९२९.
तिलोय पण्णत्ति	:	आचार्य यति ऋषभ, सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१.
त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र	:	आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०६-१९१३.
दशवैकालिकसूत्र	:	सं० आ० तुलसी, तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९६३.
द्वादशानुप्रेक्षा	:	आचार्य कुन्दकुन्द, सं० पन्नालाल

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीघनिकाय : सं० जगदीश कश्यप, बिहार सरकार, १९५६.

ध्यानशतक : सं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री.

धम्मसंगहणी : सं० पी० व्ही० वापट, पूना, १९४०.

नन्दीसूत्र : व्याख्याकार आत्मारामजी, लुधियाना, १९६६.

निशीथचूर्णि : जिनदास गणि महत्तर.

प्रमेयकमलमार्तण्ड : मा० ग्रन्थमाला, बम्बई.

प्रवचनसार : आ० कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शस्त्रमाला, बम्बई, १९३५.

प्रवचनसारोद्धार : नेमिचन्द्र सूरि, जीवनचन्द्र साकरचन्द मुकेरी, बम्बई, १९२६.

प्रशमरतिप्रकरण : उमा स्वाति, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९५०.

पउमचरियं : प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी.

पद्मपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४.

पंचसंग्रह (प्राकृत) : महावीर विद्यालय, बम्बई.

पंचास्तिकाय : आ० कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१६.

पञ्चविंशतिका : जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९३२.

बृहत्कल्पभाष्य : आत्मानन्द महासभा, भावनगर, १९३३.

भगवान् महावीर और उनका चिन्तन: डॉ० भागचन्द्र जैन, धूलिया, १९७६.

भगवती आराधना सटीक : सं० सखाराम दोशी, शोलापुर, १९३५.

भगवतीसूत्र : अभयदेव सूरि वृत्तिसहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद, १९२२-३१.

भगवान् महावीर : दलसुख मलवणिया

भारतीय दर्शन का इतिहास : भाग १, डॉ० राधाकृष्णन

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मज्झिमनिकाय : सं० जगदीश काश्यप, बिहार सरकार, १९५८.

मत्स्यपुराण : सं० श्रीराम शर्मा, १९६५.

मध्यदेश : धीरेन्द्र वर्मा, पटना, १९६७.

महावीरचरित्र : मफतलाल संघवी

महावंस : आनन्द कौशल्यायन

मोक्खपाहुड : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० १९७७.

मूलाचार : अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९.

मूकमाटी : चेतना के स्वर : ले० भागचन्द्र जैन, नागपुर.

यशस्तिलकचम्पू : आ० सोमदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०१-१६.

योगशास्त्र : जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६.

लिङ्गपुराण : सं० श्रीराम शर्मा, १९६०.

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : सं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई.

विष्णुपुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर.

श्रमण भगवान् महावीर : मुनि नथमल, लाडनूं.

श्रावक प्रज्ञप्तिटीका : ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, वि०सं० १९६१.

श्रीमद्भागवतपुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर.

सन्मतितर्कप्रकरण : गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, सं० १९८०.

समवायाङ्ग : आगम प्रकाशन समिति, व्यावर.

समाधितन्त्र : वीर सेवा मन्दिर, देहली, वि०सं० २०२१.

सर्वार्थसिद्धि : भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९५५.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागार धर्मामृत	:	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० १९७२.
सूत्रकृताङ्ग	:	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर.
स्थानाङ्ग	:	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३७.
समयसार	:	अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, १९५८.
वर्द्धमानचरित्र	:	सं० पन्नालाल जैन.
षट्खण्डागम	:	सं०डॉ० हीरालाल जैन, अमरावती, १९४१-५७.

An Encyclopaedia of Indian Archaeology edited by A. Ghosh, Delhi, 1989.

Ayodhya—Archaeology after demolition by D. Mandala, Orient Longman, Hyderabad, 1993.

Jainism in Buddhist Literature by Dr. Bhagchandra Jain, Nagpur, 1972.

Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, 1885.

The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.

●

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्य शब्द-सूची

अकम्पित ५०
अग्निभूति ४९
अचलभ्राता ५०
अनशन १०४
अन्तकृद्दशासूत्र ३,६०
अध्यात्म १२७
अरिष्टनेमि १३
अभिग्रह ४३
अवतरण १७
अनार्य देशों में भ्रमण ४०
अनेकान्तवाद २०,६०
अहङ्कार ७३-७५
आकिञ्चन्य ११८
आचरण ५८
आत्मा ७२
आचेलक्य ५
आभ्यन्तरतप १०७
इन्द्रभूति ४७
इन्द्रियदमी १०३
इन्द्रियवृत्ति ११५
उपसर्ग ३५-४४
ऊनोदर १०५
ऋषभदेव १०-१२,५६
ऋजुता ७७-८१
औद्देशिक ६
क्षमावाणी पर्व २
क्षमा ६४-७०
कल्पसूत्र ३,२७
कठपूतना ४१
कर्णशलाका ४४
कायोत्सर्ग ११०
कांट १२४
केवलज्ञान ४५
क्रोध ६६-७०
गजसुकुमार ६१
गणधर ४७
गर्भापहरण ३०
गार्हस्थिक जीवन ३२
गोपालक ४३
गौतमकुमार ६१
ज्ञान १००
चतुर्विध संघ ५२
चन्दना ४३
चण्डकौशिक सर्प ३८
चारित्रिक विशुद्धि ११०
छद्मस्थ साधना ३३
जन्म ३१
जिन १९
त्याग ११२,१२०
तन्त्र परम्परा १२३
तप्तधूलि ४२
तामली १०१
दशलक्षण परम्परा ४
दान ११३

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म	७
ध्यान	१०९
धम्मचक्कपवत्तन	४६
निगण्ठनातपुत्त	२३
निमित्तज्ञान	३८
पर्युषण	१,२,५,६,२७
पर्व	१
परिनिर्वाण	५५
पूर्वभव परम्परा	१५,२८
प्रचार-प्रसार	२०
प्रतिज्ञायें	३६
प्रयास	५१
प्रायश्चित्त	१०७
पार्श्वनाथ	१४
प्राकृत	४६
ब्रह्मचर्य	१२३
बाहुबली	१२
बाल्यावस्था	३१
ब्राह्मण संस्कृति	८
बाह्य तप	१०४
भरत बाहुबली युद्ध	१२१
मण्डित	५०
मक्खलि गोशालक	३९,४२
मनोविज्ञान	१२४, १२६
महाभिनिष्क्रमण	१८,३३
महावीर	१४-५५
मारीचि	११
मार्दव	७१-७६
मूर्च्छा	११६
मेतार्य	५१
मौर्यपुत्र	५०
रत्नत्रय व्रत	२
लोभ	८३
लोहार्गला	४१
व्यक्त	४९
वज्जी गणतन्त्र	३०
वर्षावास	३४,५२
वायुभूति	४९
विकथा	१०१
वृत्तिसंक्षेप	१०५
वैयावृत्त्य	१०८
स्वप्न	३७
स्थानकवासी परम्परा	३
स्वानुभूति	६४, १२४
स्वाध्याय	१०९
सत्य	८८,९३
साधना	१०१, ११९
सामायिक	१०९
सुधर्मा	४०
संगम	४३
संघ प्रमाण	५४
संकल्प	७१
संयम	९४,१००
संलीन	१०६
शाकाहार	१०४
शिक्षा-दीक्षा	३२
शौच	८२-८७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

जन्मतिथि व स्थान : १ जनवरी १९३९, बम्होरी (छतरपुर), म०प्र०

शैक्षणिक योग्यता : एम०ए०,पी-एच०डी०, डी०लिट्०

नियुक्तियाँ : सन् १९६५ से पालि-प्राकृत विभागाध्यक्ष, नागपुर विश्वविद्यालय भूतपूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक- जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ।

वर्तमान में- प्रोफेसर एवं निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-वाराणसी। मानद निदेशक, सन्मति शोध संस्थान, नागपुर ।

सम्मान : यू०जी०सी० नेशनल फेलो, कॉमन वेल्थ फेलो, श्रीलंका, रामपुरिया पुरस्कार, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार, महावीर पुरस्कार, हस्तिमल पुरस्कार, केन्द्रीय सरकार पुरस्कार आदि १५ पुरस्कार।

विदेश भ्रमण : अमेरिका और यूरोपियन देशों का अनेक बार भ्रमण ।

संपादक : आनन्ददीप, सुधर्मा, नागपुर विश्वविद्यालय जर्नल, श्रमण।

प्रकाशित पुस्तकें : जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, बौद्ध मनोविज्ञान, भारतीय संस्कृतीला बौद्धधर्माचे योगदान, धम्मपरिक्खा, यशोधरचरित, चंदप्पहचरिउ, चतु:शतक पालिकोससंगहो, हेवज्रतन्त्र आदि।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	Studies in Jaina Philosophy	Dr.Nathamal Tatia	100.00
2.	Jaina Temples of Western India	Dr.Harihar Singh	200.00
3.	Jaina Epistemology	I.C. Shastri	150.00
4.	Concept of Pañcaśīla in Indian Thought	Dr. Kamla Jain	50.00
5.	Concept of Matter in Jaina Philosophy	Dr. J.C. Sikdar	150.00
6.	Jaina Theory of Reality	Dr.J.C. Sikdar	150.00
7.	Jaina Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	100.00
8.	Aspects of Jainology (Complete Set: Vols. 1 to 7)		2200.00
9.	An Introduction to Jaina Sādhanā	Dr. Sagarmal Jain	40.00
10.	Pearls of Jaina Wisdom	Dulichand Jain	120.00
11.	Scientific Contents in Prakrit Canons	N.L. Jain	300.00
12.	The Path of Arhat	T.U. Mehta	100.00
13.	Jainism in a Global Perspective	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr.S. P. Pandey	400.00
14.	Jaina Karmology	Dr. N.L. Jain	150.00
15.	Aparigraha- The Humane Solution	Dr. Kamla Jain	120.00
16.	Studies in Jaina Art	Dr. U.P. Shah	300.00
१७.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास	(सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)	६३०.००
१८.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास	(सम्पूर्ण सेट: चार खण्ड)	७६०.००
१९.	जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी	१५०.००
२०.	वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० विश्वनाथ पाठक	८०.००
२१.	प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पादक- डॉ० के०आर०चन्द्र	२००.००
२२.	जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो० सागरमल जैन	३५०.००
२३.	गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० विश्वनाथ पाठक	६०.००
२४.	सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड)	प्रो० सागरमल जैन	३००.००
२५.	गुणस्थान सिद्धान्त: एक विश्लेषण	प्रो० सागरमल जैन	६०.००
२६.	भारतीय जीवन मूल्य	डॉ० सुरेन्द्र वर्मा	७५.००
२७.	नलविलासनाटकम्	सम्पादक- डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डे	६०.००
२८.	अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद	डॉ० राजेन्द्र कुमार सिंह	१५०.००
२९.	दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति: एक अध्ययन	डॉ० अशोक कुमार सिंह	१२५.००
३०.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनु० सहित)	अनु०- डॉ० दीनानाथ शर्मा	२५०.००
३१.	सिद्धसेन दिवाकर: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय	१००.००
३२.	मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म	डॉ० श्रीमती राजेश जैन	१६.००
३३.	भारत की जैन गुफाएँ	डॉ० हरिहर सिंह	१५०.००
३४.	महावीर निर्वाणभूमि पावा: एक विमर्श	भागवतीप्रसाद खेतान	६०.००
३५.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ० शिवप्रसाद	२००.००
३६.	बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	२००.०
३७.	जीवसमास	अनु०- साध्वी विद्युत्प्रभाश्री जी	१६०.००

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org